पंत का प्रगतिवादी काव्य

प्रमिला त्रिवेदी

पंत का प्रगतिवादी काव्य

स्मृति प्रकाशन
124, शहरारावाग
इलाहाबाद
द्वारा
वितरित

पंत का प्रगतिवादी काव्य

•
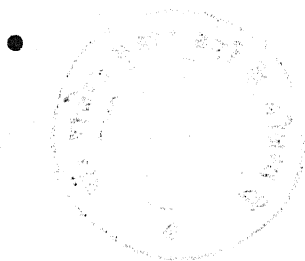
प्रमिला त्रिवेदी

प्रकाशक

अनादि प्रकाशन

609, कटरा, इलाहाबाद

प्रकाशक : अनादि प्रकाशन
609, कटरा, इलाहाबाद

वितरक : स्मृति प्रकाशन
124, शहराराबाग
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : 1977

मूल्य : 12 रुपये 50 पैसे

मुद्रक : धारा प्रेस
कटरा, इलाहाबाद

प्राक्कथन

सुमित्रानन्दन पंत के प्रगतिवादी काव्य की समीक्षाएँ प्रायः अतिवादी हैं। एक ओर जहाँ छायावादी समीक्षकों ने उनके इस काव्य-सृजन को आवश्यकता से कम महत्व दिया, वहाँ दूसरी ओर प्रगतिवादी समीक्षकों ने उसका आवश्यकता से अधिक यशोगान किया। फलस्वरूप पंत के प्रगतिवादी काव्य का सम्यक् विवेचन नहीं हो पाया। 'चिदम्बरा' पर ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त होने के दिनों में भी पंत जी पर प्रचुर सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई। लेकिन वह अधिकांशतः प्रचारात्मक ही थी। और उसकी दृष्टि भी पंत जी के साहित्य पर कम, उनके जीवन परिचय पर अधिक केन्द्रित थी। इस प्रकार पुरस्कार-समारोह के दिन बीत जाने के बाद भी पंत जी के प्रगतिवादी काव्य के सम्यक् विवेचन की आवश्यकता बनी रही। हिन्दी में प्रगतिवाद पर जो अनेकानेक लेख काव्य-प्रवृत्तियों के अन्तर्गत देखने को मिलते हैं, उनमें प्रगतिवाद के तत्वों का कथन अधिक है, पंत के प्रगतिवादी काव्य का विश्लेषण कम। अब तो प्रगतिवाद के तत्वों के उदाहरणों के रूप में उनकी कविताओं को उद्धृत करने की प्रवृत्ति भी कम हो गई है, क्योंकि अब अन्य अनेक प्रगतिवादी कवियों के प्रचुर और कदाचित् अधिक सटीक उदाहरण उपलब्ध होने लगे हैं। इस स्थिति में पंत के प्रगतिवादी काव्य के सम्यक् विवेचन की दिशा में यत्न करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत लघु प्रबन्ध इसी दिशा में एक विनीत यत्न है।

लघु प्रबन्ध में कुल छह अध्याय हैं। पहला अध्याय पंत के जीवन परिचय, उन पर पड़े हुए प्रभावों और उनकी युगीन परिस्थितियों को समझने से सम्बन्धित है। पंत जी के सम्बन्ध में आम धारणा यह है कि उनका जीवन सदैव एक सुविधासम्पन्न जीवन रहा है। लेकिन उनके जीवन-क्रम को गहराई से समझने पर यह धारणा टूटती है। वस्तुतः दुःख और कठिनाइयों से उनका

परिचय उतना दूर का नहीं है, जितना साधारणतः सिद्ध किया जाता है। ऐसी स्थिति में प्रगतिवादी काव्य-सृजन उनके जीवन का अपेक्षाकृत स्वाभाविक मोड़ प्रतीत होता है। उनके काव्य-जीवन का वह उतना आरोपित मोड़ नहीं है, जितना आरोपित उसे सिद्ध करने की प्रथा हिन्दी में है। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रथम अध्याय केवल औपचारिक आवश्यकता की पूर्ति ही नहीं है, बल्कि पंत के प्रगतिवादी काव्य को समझने के लिए स्वाभाविक तथा आवश्यक पीठिका है।

दूसरा अध्याय एक औपचारिकता की पूर्ति ही अधिक है। उसमें साम्यवाद तथा प्रगतिवाद के सामान्य सिद्धान्तों का कथन है। हिन्दी में प्रगतिवाद के आगमन और विकास की सामान्य रूप-रेखा को भी इस अध्ययन के अन्तर्गत देने का प्रयत्न किया गया है।

तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय पंत के प्रगतिवादी काव्य-संकलन—क्रमशः युगांत, युगवाणी और ग्राम्या का विवेचन करते हैं। इन अध्यायों में उक्त संकलनों को इस दृष्टि से विवेचित किया गया है कि पंत उनमें कथ्य एवं शिल्प के सन्दर्भ में प्रगतिवादी विचारधारा को कहाँ तक उपलब्ध कर पाये हैं। अंतिम अध्याय उपसंहार का अध्याय है। प्रगतिवादी काव्य-सृजन के क्षेत्र में पंत जी के मौलिक प्रदेय और हिन्दी प्रगतिवादी कविता के इतिहास में उनकी मौलिक भूमिका, अन्य कवियों पर उनके प्रभाव आदि को समझने का एक संक्षिप्त प्रयत्न इस अध्याय में है। वास्तव में ये चारो अध्याय प्रबन्ध के मुख्य अध्याय हैं।

मेरे विवेचन में निश्चय ही अनेक त्रुटियाँ होंगी। मेरी सीमित शक्ति और निर्देशन को ठीक से हृदयंगम न कर पाने के कारण इनका होना स्वाभाविक ही है। मैं अनुभव करती हूँ कि मेरे इस कार्य के बाद भी पंत जी के प्रगतिवादी काव्य का विस्तृत अध्ययन होने की आवश्यकता है।

आदरणीय पूज्य गुरुवर श्री जयकुमार जलज ने मेरे मन के अनुकूल विषय दिया और विषय को समझने की दृष्टि प्रदान की। साथ ही सदैव प्रेरणा एवं प्रोत्साहन दिया। उन्होंने जिस सहानुभूति और स्नेह के साथ निर्देशन किया है, उसके लिए मैं उनकी चिर ऋणी रहूँगी।

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रतलाम के प्राचार्य माननीय श्री जयदेव प्रसाद दुबे ने पुस्तकों के लिए विशेष अनुमति तथा कार्य करने के लिए

सदैव प्रोत्साहन दिया, इसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ। आदरणीय गुरुवर श्री चन्द्रकान्त देवताले ने भी मुझे सदैव प्रोत्साहन दिया है। विभाग के अन्य गुरुजन—आदरणीय श्री ओमप्रकाश एरन, डॉ० राजाराम तिवारी, श्री हरीश पाठक तथा श्री रामकुमार मेहरा की भी मैं आभारी हूँ।

महाविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री मधुकर नायक, श्री खान, श्री मरमट एवं श्री ओझा भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में प्रबन्ध को टंकित करने के लिए श्री चतुर्भुज राठौर को जितना भी धन्यवाद दिया जाय, वह कम है।

—प्रमिला त्रिवेदी

अध्याय 1

सुमित्रानन्दन पंत

जीवन परिचय एवं युगीन परिस्थितियाँ

प्रसिद्ध फ्रांसीसी आलोचक टेन का कथन है कि किसी व्यक्ति का निर्माण तीन निर्वैयक्तिक उपादानों से होता है :—

(1) वंश परम्परा,

(2) परिपार्श्विक परिस्थिति और

(3) युग की विचारधारा तथा विश्वास।

टेन के इस कथन में भले ही सम्पूर्ण सत्य न हो, किन्तु हिन्दी कवियों में सुमित्रानन्दन पंत पर यह कथन बहुत दूर तक सही उतरता है। पंत जी के जीवन और व्यक्तित्व से उनका काव्य-विकास पूरी तरह जुड़ा हुआ है। हरिवंशराय बच्चन का कथन है कि "बिना उनके (पंत जी के) व्यक्तित्व को समझे उनकी रचनाएँ नहीं समझी जा सकतीं।"[1] "पंत की रचना उनके जीवन-विकास की प्रतिच्छाया है।"[2]

सुमित्रानन्दन पंत का जन्म 20 मई, सन् 1900 ई० को कौसानी नामक स्थान में हुआ। उनके जन्म के कुछ घण्टे पश्चात् उनकी माँ का निधन हो गया।[3] कौसानी अल्मोड़े से 32 मील उत्तर की ओर है। यहाँ पर पंत जी के पिता गंगादत्त जी पंत कौसानी के टी गार्डेन्स के मैनेजर थे और स्वतन्त्र रूप से लकड़ी का व्यापार करते थे। गंगादत्त जी की कौसानी में ख्याति थी और वे धनी माने जाते थे। "कौसानी कूर्मांचल की विशिष्ट सौन्दर्यस्थली है", जिसकी तुलना गाँधी जी ने स्विट्जरलैण्ड से की है।[4]

---

1. पल्लविनी—एक दृष्टिकोण, पृ० 9।
2. वही, पृ० 19।
3. 'शिशु पंत को प्राणों का सम्बल देकर मातृ-चेतना अन्तर्हित हो गई'—सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 1।
4. 'जन्मभूमि कौसानी जिले कूर्मांचल की विशिष्ट सौन्दर्यस्थली माना जाता है, जिसकी तुलना गाँधी जी ने स्विट्जरलैण्ड से की है।'—साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत, पृ० 9।

मातृविहीन होने के कारण बालक पंत पिता के अत्यधिक लाड़ले बन गये। पत्नी की मृत्यु से गंगादत्त जी विरक्त-से हो गये थे; सब बातों से तटस्थ रहते। "वे किसी बात में नहीं बोलते थे, सभी को बिल्कुल छूट थी। मात्र छोटे बेटे का ध्यान रखने के अतिरिक्त वह तटस्थ ही रहते।"[1]

पंत जी के पिता काफी धनवान थे। लकड़ी के व्यापार से उन्होंने पर्याप्त धन एकत्रित कर लिया था। उनका अल्मोड़ा में साठ कमरों वाला एक तिमंजिला मकान था। पंत जी ने अल्मोड़ा का विद्यार्थी जीवन इसी घर में बिताया। पिता गंगादत्त जी उदार, कर्मठ तथा धर्मप्राण थे। वे साधु-सन्तों की सेवा करते, अतिथियों का सत्कार करते और अपने काम में एकाग्र रहते थे।

गंगादत्त जी ने बालक के दीर्घायुष्य की कामनावश उसे एक गोस्वामी हरिगिरी बाबा को अर्पित कर दिया। उन्हीं बाबा ने बालक का गोसाईं दत्त नाम रखा और उसके गले में एक रुद्राक्ष बाँध दिया।

"गोसाईं दत्त अपने पिता की आठवीं तथा अन्तिम संतान हैं। तीन भाई (हरनंदन : 1885-1961, रघुदत्त : 1892-1927 तथा देवीदत्त : 1898-1955) और चार बहनों (बसंती, माधवी, रुक्मिणी तथा गौरी) के बाद उनका जन्म हुआ।"[2] सबसे छोटे होने के कारण पिता का स्नेह इन पर सर्वाधिक था। पंत को उनकी (पंत जी की) 10-10½ साल की आयु तक अपने ही साथ सुलाया और इधर-उधर कहीं नहीं जाने दिया।

पंत कोमल, सुकुमार, शालीनता की मूर्ति हैं। "पंत राजकुमार थे। पंत के पिता ने पैंसठ कमरों वाला महल बनवाया था। पंत के बड़े भाई रघुवरदत्त प्रिंस कहलाते थे। रहन-सहन, ठाठ-बाट सब राजसी था।"[3] "·········वैसे वे सभी के लाड़ले थे—सौम्य स्वभाव, मोहक व्यक्तित्व का वह सबसे छोटा बालक सभी का प्रिय था।"[4]

1905 में कौसानी की पाठशाला में पंत का नाम लिखवा दिया गया। संस्कृत की शिक्षा का प्रारम्भ उनके फूफाजी ने ही कराया। 1907 एवं 1909

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 24।
2. वही, पृ० 21।
3. निराला की साहित्य साधना—रामविलास शर्मा, पृ० 556।
4. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 33।

के मध्य पंत जी ने अमरकोश, मेघदूत, राम रक्षा स्तोत्र, चाणक्य नीति आदि के अतिरिक्त अनेक शास्त्रों का ज्ञान फूफा जी की सहायता से प्राप्त कर लिया। फूफा जी के अतिरिक्त अम्बादत्त जी जोशी ने, जो संस्कृत और पर्शियन के विद्वान् थे, पंत को संस्कृत तथा पर्शियन का ज्ञान कराया। अंग्रेजी की प्रारम्भिक शिक्षा उन्हें गंगादत्त जी ने दी। कौसानी स्कूल में अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जाती थी।

"बड़े भाई हरदत्त जी के मधुर काव्य-पाठ तथा साहित्यिक रुचि ने पंत को साहित्य का अनुरागी बना दिया। वे मन लगाकर पढ़ने लगे और इसी बीच उन्हें घर में संगीत का अभ्यास भी प्रारम्भ करवा दिया गया। ......पंत के कवि व्यक्तित्व के प्रस्फुटन के लिए उनके बचपन में ही सभी परिस्थितियाँ बन गयीं।"[1]

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 1909 ई० में सुमित्रानन्दन पंत ने अपर प्रायमरी दर्जा चार पास कर लिया था।[2] किन्तु पंत जी की जीवनीकार शांति जोशी के अनुसार 1909 में उन्होंने तीसरी कक्षा उत्तीर्ण की थी।[3] आगे पढ़ाई जारी रखने के लिए अलमोड़ा जाना आवश्यक था। पर गंगादत्त जी का हृदय पुत्र-वियोग का स्मरण कर डोल गया। फलतः स्नेह के वशीभूत हो गंगादत्त जी ने उनको एक डेढ़ साल तक कौसानी में ही रोक लिया, अलमोड़ा नहीं जाने दिया। इस-अवधि में उन्होंने अपने पिता तथा बड़े भाई से अंग्रेजी सीखी तथा संगीत का अभ्यास किया।

मई 1010 में अग्रज देवीदत्त परीक्षा के बाद अलमोड़ा से घर आये, तो पंत उनके साथ अलमोड़ा जाने को तैयार हो गये, क्योंकि उन्हें पढ़ने की उत्कट इच्छा थी। पिता गंगादत्त ने भी कदाचित् अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत होकर तथा पंत का दृढ़ संकल्प देख कर पंत को अलमोड़ा जाने की अनुमति दे दी।

"शिक्षा प्राप्त करने के लिये पंत पहली बार दस साल की अवस्था में अलमोड़ा आए। यह गाँव से नगर में एक सरल, बौद्धिक, प्राकृतिक श्रीसम्पन्न नगर के जीवन में प्रवेश था......यह पंत के मानसिक सांस्कृतिक विकास का

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 44।
2. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन—संपादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० 33।
3. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 60।

एक महत्वपूर्ण चरण था। यहाँ उनकी मान्यताएँ, रुचि और स्वभाव, जो अभी तक प्रकृति के भाव-सौन्दर्य के पालने में दुलार पा रहे थे, एक स्पष्ट मूर्त आकार, परिमार्जित व्यक्तित्व, आभिजात्य संस्कार और सुस्पष्ट लक्ष्य में प्रेरित हो निखर सके। पंत के व्यक्तित्व और समस्त काव्य-जीवन को प्रतिच्छवित कर उसकी स्पष्ट रूप-रेखा को देने वाला यह आठ साल का अल्मोड़ा-निवास उनके जीवन के सुन्दर, सुखद तथा संस्कृत विकास का सूचक है।"[1]

अल्मोड़ा आकर पंत जी ने वेश-परिवर्तन के साथ ही बालों को भी नया रूप दिया। "नेपोलियन का युवावस्था का सुन्दर चित्र देखकर स्वयं भी लम्बे घुँघराले बाल रख लिए।"[2]

अल्मोड़ा आने पर वेश-परिवर्तन एवं नया रूप देने के साथ पंत जी ने नाम-परिवर्तन भी किया। गवर्नमेंट हाईस्कूल अल्मोड़ा में चौथी कक्षा में नाम लिखाने के लिये उन्हें जब कौसानी के वर्नाक्यूलर स्कूल का सर्टीफिकेट मिला तो नाम पर उन्होंने ध्यान दिया और उन्हें लगा कि यह नाम अच्छा नहीं इसे जल्दी बदल देना चाहिये। पंत जी किसी भी काम में झिझकते नहीं थे। उनका स्वभाव निर्भय दृढ़ संकल्पयुक्त था। अतः नाम-परिवर्तन के सम्बन्ध में किसी से राय लेने, अनुमति लेने की कोई आवश्यकता न समझी। "उसी समय सर्टीफिकेट पर लिखे नाम को चाकू से खुरचकर उसके स्थान पर सुमित्रानन्दन लिख दिया गया।"[3]

नवीं कक्षा तक पंत जी ने अल्मोड़ा में ही शिक्षा प्राप्त की। अल्मोड़ा में उन्हें स्पष्ट भास हो गया कि नियति ने उन्हें किसी शिष्ट प्रयोजन से ही भेजा है—"कुछ बनने के लिये।" पंत दृढ़व्रत हो गये, किन्तु लक्ष्य अस्पष्ट, धूमिल था। अल्मोड़ा में संगीत की शिक्षा सुलभ थी। कौसानी में भी संगीतमय वातावरण तो था ही, उसका अभ्यास भी पर्याप्त किया था। अतः पंत संगीत की ओर झुके······किन्तु नियति का उद्देश्य कुछ और ही था। अल्मोड़ा में,

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 61-62।
2. साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत, पृ० 16।
3. साठ वर्ष : एक रेखांकन में पंत ने पृ० 15 पर लिखा है—"अल्मोड़ा आने पर अपना नाम मैंने स्वतः ही सुमित्रानन्दन रख लिया।" किन्तु शांति जोशी ने 'सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य' के पृ० 62 पर लिखा है "किन्तु अब वे स्वीकार करते हैं कि उन्होंने भूलवश ऐसा लिख दिया था।"

उसी बीच देश-प्रेम और भाषा-प्रेम की वह प्रबल लहर आई, जिसने पंत को साहित्य सृजन की ओर मोड़ दिया।[1]

"1915 में स्वामी सत्यदेव का व्याख्यान सुना।"[2] स्वामी सत्यदेव के भाषण देश-प्रेम और स्वभाषा-प्रेम से ओत-प्रोत रहते थे। स्वभावतः पंत जी पर इनके भाषण का गहरा प्रभाव पड़ा।

सातवीं-आठवीं कक्षा में ही पंत जी ने कविकर्म करने का निश्चय किया। "कविकर्म को अपनाने का निर्णय सम्भवतः मैंने सातवीं-आठवीं कक्षा में ले लिया था और कवि के साथ केशों का सम्बन्ध मैं पीछे टँगे टैगोर के चित्र को देखकर जोड़ सका।"[3]

1911 में पंत जी का उपनयन संस्कार धूमधाम से सम्पन्न किया गया। पंत के फूफा उन्हें सुबह-शाम गायत्री मंत्र का जाप कराते थे। उपनयन संस्कार के पाँचवें दिन पंत अल्मोड़ा आ गये और यहाँ आकर उन्होंने जनेऊ को उतार दिया। 1911 में जनेऊ जैसे बन्धन को उतार फेंकना पंत जी के स्वतन्त्र, निर्भीक स्वभाव का परिचायक है। इससे विदित होता है कि 11 वर्ष के बालक पंत अनावश्यक बात को केवल इसीलिये नहीं ओढ़े रह सकते थे कि वह रीति तथा परम्परा से प्राप्त है। इसका यह अर्थ नहीं कि पंत जी स्वभाव से कोई बहुत उग्र रहे हों। वे प्रारम्भ से ही अत्यन्त विनम्र हैं। लेकिन उनकी विनम्रता उनकी दुर्बलता की सूचक नहीं है। महादेवी वर्मा ने उनके स्वभाव के सम्बन्ध में टिप्पणी की है—"व्यवहार में वे अत्यन्त शिष्ट, मधुरभाषी और विनोदी हैं। उनकी कोई बात किसी को किसी तरह की चोट न पहुँचा दे इसका वे इतना ध्यान रखते हैं कि श्रोता सचमुच चोट की कल्पना करने लगे तो अस्वाभाविक न कहा जायेगा।"[4] "उनके विनम्र हँसमुख मौन के कारण उनके सहपाठी उन्हें शुगरकेन कहा करते थे।"[5]

पंत ने आठवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते अल्मोड़े में अपने भाई के पुस्तका-

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 67।
2. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन—संपादिका शची-रानी गुर्टू, पृ० 3।
3. साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत, पृ० 16।
4. पथ के साथी—महादेवी वर्मा, पृ० 111-112।
5. साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत, पृ० 22।

लय के लिये हिन्दी के अनेक कोश तथा सद्ग्रन्थ खरीदकर उसकी और भी वृद्धि कर दी थी। छठी कक्षा से ही पंत जी ने काव्य-ग्रन्थों का संग्रह करना आरम्भ कर दिया था। पंत जी के इस संग्रह में द्विवेदी युग के कवियों की रचनाओं के अलावा प्रेमचन्द के उपन्यास, बंगला, मराठी आदि पुस्तकों के अनुवाद और मध्ययुगीन कवियों के ग्रन्थ थे। सरस्वती, मर्यादा आदि पत्रिकाएँ जो उस समय प्रसिद्ध थीं, उन्हें वे मँगाकर पढ़ते थे।

ऐसे समय जब काव्य-साधना में पंत का मन बहुत रम गया था, घर का वातावरण भी श्यामाचरण पंत के आ जाने से और भी अधिक साहित्यिक बन गया। उनका प्रकृति-प्रेम अब साहित्य-प्रेम में अभिव्यक्ति पाने लगा। "श्यामाचरण जी ने इलाचन्द्र जी की सहायता से सन् 1925 में एक हस्त-लिखित मासिक पत्र 'सुधाकर' भी हमारे यहाँ से सम्पादित किया। इस हस्त-लिखित पत्र में हम सभी उदीयमान लेखकों की कविताएँ, कहानी, आलोचनाएँ तथा निबन्ध निकलते थे।......मेरी अनेक कविताएँ सुधाकर में निकली हैं। उन दिनों मुझ पर श्री गुप्त जी तथा हरिऔध जी की रचनाओं का थोड़ा बहुत प्रभाव रहा होगा।"[1] 'सुधाकर' में निकली उनकी कविताओं पर आलोचना की जाती, लेकिन पंत जी ने इसकी परवाह न की। उनका मत था—"जीवन में कुछ करना है तो ऐसी आलोचनाओं को निर्लिप्त भाव से ग्रहण करना होगा। मुझे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से व्यक्त करना उचित लगता। फिर चाहे आलोचक जो कहे उसे सुनने में कोई हानि नहीं दीखी।"[2]

नैनीताल को देखने की पंत जी की बहुत इच्छा थी और संयोग भी उपस्थित हो गया। उनके पिता के एक निकट सम्बन्धी के यहाँ नैनीताल में विवाह था और गंगादत्त जी ने स्वयं पुत्र पंत को नैनीताल चलने को कहा। पंत पिता के साथ नैनीताल गये। "नैनीताल का यह प्रथम आकर्षण पंत के बाल उपन्यास 'हार' में तरलंग के रूप में अंकित हुआ। वहाँ बैठकर जो शांति और विश्राम की भावना उनको अनुभव हुई उसी का सूचक 'आराम वन' है। दुर्गादेवी का मन्दिर नैनीताल की नैनीदेवी का प्रसिद्ध मन्दिर है। पंत का नैनीताल जाना उनके साहित्यिक जीवन का समारम्भ था। इसी ने उनकी

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 86।
2. वही, पृ० 88।

प्रथम रचना 'हार' को जन्म दिया। उसके लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत किया। हार की पृष्ठभूमि—प्राकृतिक सुषमा और सौन्दर्य कौसानी तथा नैनीताल के सौन्दर्य का ही प्रतिबिंब है।"[1]

पंत जी ने अल्मोड़ा और कौसानी-काल में अथवा यों कह सकते हैं कि ग्यारह और सोलह साल की आयु के बीच अधिकतर तात्कालिक विषयों पर ही कविताएँ लिखीं। उस समय के भाव एवं विचार भले ही अपरिपक्व एवं अविकसित रहे हों पर पंत को उन्हें छंदबद्ध करने में विशेष आनन्द मिलता था। और छंदों के मधुर संगीत ने उन्हें यहाँ तक मोह लिया था कि इन दिनों अनेक पत्र उन्होंने छंद में गूँथकर ही लिखे। "अपने पास-पड़ोस और दैनंदिनी की परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होकर मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ निःसृत हुई हैं और अपनी अस्फुट अबोध भावना भाषा की अस्फुट तुतलाहट में बाँधकर मैं अपने छंद-रचना-प्रेम को चरितार्थ करता रहा हूँ।"[2] इन प्रारम्भिक कविताओं के माध्यम से पंत जी ने एक आदर्श की स्थापना करने की चेष्टा की है। वे मानवोचित स्वतन्त्रता, सच्चाई, एकता, आनंद आदि के गौरव को प्रकट करती हैं। 'अरूप', 'हिमालय', 'कागज के फूल', 'तम्बाकू का धुआँ' तथा 'गिरजे का घण्टा' आदि उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ आदर्शपरक होने के साथ-साथ मौलिक प्रयोग भी हैं।

'गिरजे का घण्टा' नामक कविता में पंत ने जागरण का आह्वान किया है। यह कविता पूर्ण होते ही उन्हें लगा कि यह कविता अच्छी है। कविता इस प्रकार थी—

> **"नभ की उस नीली चुप्पी पर घण्टा है एक टँगा सुन्दर,**
> **जो घड़ी-घड़ी मन के भीतर कुछ कहता रहता बज-बज कर।**
> **भरते स्वर में मधुर रोर, जागो रे जागो काम चोर,**
> **डूबे प्रकाश में दिशा छोर, अब हुआ भोर अब हुआ भोर।"**

"उपर्युक्त रचना मैंने अपने किशोर चापल्य के कारण नीले रंग के रूलदार लेटर पेपर पर उतारकर श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास उनकी सम्मति के लिए भेजी थी। गुप्त जी ने सहज सौजन्यतावश उसके हाशिए में दो-चार

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 90।
2. शिल्प और दर्शन, पृ० 217, शांति जोशी द्वारा उद्धृत।

प्रशस्ति के वाक्य लिखकर मुझे वह रचना लौटा दी थी। जिससे प्रोत्साहित होकर वह रचना 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका में छपने के लिए श्री द्विवेदी जी के पास भेज दी थी। सप्ताह भर के भीतर ही द्विवेदी जी ने गुप्त जी के हस्ताक्षर के नीचे 'अस्वीकृत—म० प्र० द्वि० लिखकर रचना मेरे पास लौटा दी।"[1] और यह रचना सम्भवतः उनकी प्रथम तथा अन्तिम रचना थी जो किसी सम्पादक ने अस्वीकृत की थी। लेकिन इससे पंत जी निराश नहीं हुए। "सन् 1915-17 की हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य के रूप को देखते हुए पंत की आयु के लेखक को उन रचनाओं के लिए अवश्य ही श्रेय देना पड़ता है।"[2]

सन् 1915 से 1917 के काल की रचनाओं पर गुप्त जी तथा हरिऔध जी के छंदों तथा शब्द-योजना का प्रभाव था। यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। मध्ययुगीन कवियों के काव्य भी उन्हें अच्छे लगते थे। विद्यापति की कल्पना, नवीन सौन्दर्यबोध तथा कवित्व शक्ति ने उन्हें मोह लिया। उन्होंने नरोत्तमदास के लिखे हुए सुदामाचरित का अध्ययन किया। नाथूराम शंकर शर्मा के कई छंदों ने उन्हें मुग्ध किया। तुलसी की रामायण, कालिदास के मेघदूत और शाकुन्तलम् के प्रति आकर्षण कौसानी से ही उत्पन्न हो गया था। "मेघदूत और शाकुन्तलम् का अब स्वयं भाव-विभोर होकर पाठ करने लगे थे और इसने उनके मन के अनेक चित्रमय सौन्दर्यपूर्ण गवाक्षों को खोल दिया। मेघदूत की विरहिणी और शाकुन्तलम् की तपस्विनी नारी ने उनकी बाल-कल्पना में अमिट छाप छोड़ दी। करुण रस के चरण और छंद उन्हें प्रिय लगते। धीरे-धीरे उनकी धारणा परिपक्व होने लगी कि हृदयस्पर्शी बनने के लिए काव्य को करुण अवश्य होना चाहिए। भावना और विचार की इस अनुभूति को ही पंत ने 'हार', 'ग्रन्थि', 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'परिवर्त्तन' आदि में प्रश्रय दिया।"[3]

नवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते उनको छंदों का पूर्ण ज्ञान हो गया। 'ग्रन्थि' में उनका अलंकार-मोह एवं ज्ञान दिखाई देता है। अब उन्हें स्कूल की पढ़ाई नीरस लगने लगी और दूसरी पुस्तकें पढ़ना उन्हें अच्छा लगता।

सन् 1915 से '18 तक पंत ने अनेक रचनाओं का प्रणयन किया। अनेक

---

1. साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत, पृ० 20-21।
2. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 94।
3. वही, पृ० 95।

छंदों के प्रयोग किये। तात्कालिक विषयों के अतिरिक्त प्रकृति-सौन्दर्य के अनेक लघु एवं बड़े गीत लिखे। इसी समय उनकी कई रचनाएँ 'सुधाकर' में प्रकाशित हुईं। प्रयाग से प्रकाशित 'मर्यादा' मासिक पत्रिका तथा 'अल्मोड़ा-अखबार' में एक दो गीत प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी प्रकाशित हुए। "1916 ही में पंत ने अपने 'तम्बाकू का धुआँ' को अल्मोड़ा अखबार में छपवाया।"[1] सन् 1916 से 1920 के बीच इस काल की कुछ रचनाएँ रानीखेत से प्रकाशित 'हिमालय' मासिक पत्र, मर्यादा तथा पीठ से प्रकाशित ललिता, शक्ति, वसन्त और 'अल्मोड़ा अखबार' में प्रकाशित हुईं। 'हार' उपन्यास इसी काल की रचना है।

सन् 1916-17 की सर्दियों में कौसानी में पंत जी ने 'हार' उपन्यास लिखा। "यह पंत के व्यक्तित्व के मूलाधार, निःसंग प्रेम को अभिव्यक्त करने के साथ ही उनके समस्त कृतित्व के अन्तःस्वर विश्व-प्रेम को वाणी देता है।"[2] "इसके साहित्यिक ऐतिहासिक मूल्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह पंत के साहित्यिक जीवन का प्रथम सोपान है—वह सोपान जिस पर चरण रखकर वे आगे ही बढ़ते गये।.........पंत के साहित्य को समझने के लिये 'हार' को समझना ही होगा। 'हार' में शिवम्, सुन्दरम् से भीगी हुई मानव-कल्याण की जिस कथा को पंत ने अपनी बाल लेखनी से गूँथा है वह कथा अपने सत्यान्वेषी, दृढ़, सारगर्भित तथा अधिक स्पष्ट, संतुलित और विकसित रूप में उनकी विभिन्न रचनाओं में विस्तार पाकर भागवत् प्रेम एवं मानव-प्रेम के प्रकाश में विहँस उठती है।"[3]

"1918 में पंत बनारस आ गये।"[4] उनके रहने की व्यवस्था शुकदेव पाण्डे के साथ कर दी गई। अगस्त 1918 में पंत का नाम जयनारायण हाई-स्कूल में 10वीं में लिखा गया। यहाँ वे ज्ञान के पठन और मनन-चिंतन में

1. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन—सम्पादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० 34।
2. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 102।
3. वही, पृ० 111।
4. "सन् 1918 में मेरे मंझले भाई जब हाईस्कूल पास कर लेने पर क्वीन्स कालेज में शिक्षा प्राप्त करने बनारस गये तो मुझे भी उनके साथ के लिए भेज दिया गया।"—साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत, पृ० 23।

खो गए। 1918 नवम्बर में रवीन्द्रनाथ टैगोर वाराणसी आए। उनके व्यक्तित्व से पंत जी बहुत प्रभावित हुए। "उनकी पुस्तकों से भी अधिक तब उनकी कीर्ति तथा व्यक्तित्व की गरिमा ने मेरे भीतर कविता के प्रति अनुराग के मूलों को सींचकर दृढ़ बनाया।" अगस्त के अन्तिम सप्ताह में उनकी दादी का स्वर्गवास हो गया। जीवन के प्रथम आघात से उनका मन क्षुब्ध हो गया और जाड़ों में उनकी मातृ-तुल्य बुआ का भी निधन हो गया।

स्कूल के प्राचार्य मिस्टर हिल के पढ़ाने का ढङ्ग पंत को रुचिकर लगता था। ये मिस्टर हिल अँग्रेजी तथा बाइबल पढ़ाते थे। उनके पढ़ाने के ढंग से प्रभावित हो पंत घर में ही ध्यान से बाइबल का अध्ययन करने लगे। यहाँ उनके संस्कृत के कवियों का ज्ञान भी परिपक्व होने लगा।

1918-19 में हिन्दू विश्वविद्यालय में काव्य प्रतियोगिता हुई और पंत उसमें प्रथम आए। फलस्वरूप चाँदी का कप जयनारायण हाईस्कूल को गया।

प्रथम रश्मि, बालापन आदि रचनाएँ और वीणा की कुछ रचनाएँ यहीं लिखी गयीं। परीक्षा के उपरान्त 1919 में पंत कौसानी आ गए। यहाँ इन्होंने 'वीणा' सीरीज के अधिकांश प्रगीत तथा 'ग्रन्थि' नामक छोटा-सा खण्डकाव्य लिखा। "इनकी शैली तथा भावभूमि में मैंने सम्भवतः बनारस में संचित अपने काव्य-संस्कारों को अपनी किशोर क्षमता के अनुरूप वाणी देने की चेष्टा की हो।"[1]

बनारस में वे मालवीय जी, डॉ० भगवानदास तथा विशेषकर टैगोर के सम्पर्क में आए। सन् 1919 में पंत प्रयाग आए और म्योर सेन्ट्रल कालेज में इण्टर में भर्ती हो गये। प्रयाग में ही उन्होंने जीवन के अधिकांश संघर्ष तथा मानसिक विकास सम्बन्धी घात-प्रतिघात सहे हैं।

प्रयाग में पंत जी रामचन्द्र टण्डन, परशुराम चतुर्वेदी, इकबालकृष्ण कपूर, जस्टिस कैलाशनाथ वोन्यू, डॉ० पुरुषोत्तम पाण्डे, प्राणनाथ सेठ, बाबूराम सक्सेना, धनानन्द पाण्डे, धीरेन्द्र वर्मा, अवधेशप्रताप सिंह तथा रघुपतिसहाय फिराक़ के सम्पर्क में आए।

सन् 1921 में असहयोग आन्दोलन की धूम थी। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में गाँधी जी प्रयाग आए। बड़े भाई देवीदत्त जी पंत के पास आये और

1. शिल्प और दर्शन, पृ० 338—शांति जोशी द्वारा उद्धृत।

उन्हें जबरदस्ती गाँधी जी का व्याख्यान सुनने ले गये। वहाँ पर देवीदत्त ने पंत को प्रथम पंक्ति में खड़ा कर दिया और स्वयं उनके पीछे खड़े हो गये। गाँधी जी ने छात्रगण कालेज छोड़ दें ऐसी इच्छा व्यक्ति की और तत्पश्चात् उन विद्यार्थियों को हाथ उठाने को कहा जो कालेज-स्कूल छोड़ने को तैयार थे। देवीदत्त जी ने पंत का हाथ ऊपर उठा दिया। "मैंने जब मुड़कर देखा तो उन्होंने आँखें तरेरते हुए अपने होंठों के पास उंगली ले जाकर मुझे चुप रहने का आदेश दिया। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर भाई के हाथ के सहारे बलात् अपना हाथ उठाये चुपचाप सब नेताओं की दृष्टि के सामने आगे की पंक्ति में पत्थर की मूर्ति-सा खड़ा रहा।"[1]

"असहयोग करके एकाध सप्ताह पंत 'इंडिपेन्डेन्ट' को साइक्लोस्टाइल पर छापने के लिये जाते रहे। इसके बाद उनके लिए फिर राजनीति दूसरे लोक की चीज हो गई। उनके असहयोग का असली मतलब हुआ—विश्वविद्यालय की पढ़ाई से संन्यास ले कविता-सरस्वती की एकांत आराधना।"[2]

देवीदत्त जी ने एम० ए० और लॉ हालैण्ड हॉल में रह कर किया। पंत वहाँ जाते थे। यहाँ उनका परिचय 'पूरनचन्द जोशी'[3] से हुआ।

सन् 1926–27 में 'पल्लव' का प्रकाशन हुआ। इसके बाद ही पंत के घर की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गई। "सन् 1926–27 में पल्लव-प्रकाशन के बाद हमारी पारिवारिक स्थिति में एक महान् विपर्यय घटित हो गया और घर की आर्थिक स्थिति अत्यन्त संकटग्रस्त हो गई। पिताजी अब वृद्ध हो चुके थे। उनकी आय के स्रोत भी अनेक कारणों से संकुचित हो गये थे।"[4]

"घर की आर्थिक स्थिति जर्जर हो चुकी थी। भाइयों की अमीरी, आलस्य और अतिव्ययता के कारण घर की पुष्कल पूँजी पानी की तरह बहने के अतिरिक्त ऊपर से प्रायः एक लाख रुपये का कर्ज चढ़ गया था। सम्पूर्ण पारिवा-

---

1. शिल्प और दर्शन, पृ० 338—शांति जोशी द्वारा उद्धृत।
2. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन—सम्पादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० 37।
3. "इसी समय (1924) पूरनचन्द जोशी से सम्बन्ध हुआ"—काव्य-कला और जीवन-दर्शन—सम्पादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० 39।
4. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 214।

रिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी—वातावरण में नैराश्य और अवसाद छा गया था। कर्ज का बोझ घर तथा कुल के सम्मान को धक्का पहुँचाकर मिट सकता था। बाबू ने कर्ज को निपटाने के लिये अपने ऊपरी व्यवहार तथा व्यक्तित्व में बिना किसी प्रकार की कटुता या क्षोभ लाये अपनी जमीन, जायदाद, घर आदि सभी कुछ बेंच दिया। कर्ज की बात बाहर फैलते ही अचल सम्पत्ति का मूल्य एकदम गिर गया।"[1] जून सन् 1926 में अल्मोड़ा का देवी भवन बिक गया। इससे पंत को आघात लगा।

गंगादत्त जी तीसरी मंजिल की सीढ़ियों से फिसल गये थे और 3-4 माह तक चारपाई पर पड़ गये। लेकित पंत और उनके दो अग्रज अल्मोड़ा न जा सके, क्योंकि रघुवरदत्त जी को टाइफाइड हो गया था। उस समय (सन् 1927 में) टाइफाइड असाध्य रोग माना जाता था। पंत को अपने भाई के साथ एकाएक आनेवाली पारिवारिक कठिनाइयों का अनुभव हुआ। यह वह समय था जब पंत जी को यथार्थ को समझना था। उनके सामने भावात्मक तथा आर्थिक दोनों पक्ष की कठिनाई थी। उस समय (सन् 1927 में) उनकी आर्थिक स्थिति कितनी खराब थी, कैसे वे दुःखी थे इसका वर्णन स्वयं उन्होंने किया है—

"अगस्त सन् 1953 की बात है। पंत अश्क जी के यहाँ जाने के लिए तैयार होकर अपने कमरे से नीचे उतरे। सफेद पैंट पहन रखी थी। वे अपने भाँजे बद्रीदत्त से कहने लगे कि यह पैंट 1927 की है। तब मैं दुनिया का सबसे गरीब आदमी था। सभी प्रकार से थका हारा, घर बिक चुका था, भाई टाइफाइड में पड़े थे। मेरे पास न पहनने के कपड़े थे न भाई की दवा के लिए पैसे। पटल बाबू से 'पल्लव' तथा 'वीणा' का पारिश्रमिक अग्रिम माँगा और तब कुछ कपड़े बनवा सका। भाँजे ने पूछा कि बड़ा मोटा खुरदरा है, कपड़ा बड़ा सस्ता होगा 4-6 आने गज। तो पंत ने उत्तर दिया कि उस समय बाजार में मैं सबसे सस्ता कपड़ा ढूँढ़ा करता था।"[2]

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 215-216।
2. वही, पृ० 221-222।

सन् 1927 अक्तूबर को भाई रघुदत्त की मृत्यु हो गई। पंत को जीवन की निस्सारता का पहलेपहल बोध हुआ। यह एक भावात्मक आघात था।

इसी बीच पूरनचंद जोशी भी पंत के ही कमरे में अपना काम करते थे और श्री जोशी के समस्त पत्र और कागजात पंत के ही पास रहते थे। "उन दिनों में पंत जी पी० सी० जोशी से बहुत बहस करते तथा मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन की पुस्तकें तथा पुस्तिकाएँ जोशी से लेकर पढ़ते।"[1]

सन् 1929 की 20 मार्च को होस्टल में विदेशी कपड़े जलाये गये। पंत ने भी अपना विदेशी वस्त्र का कोट अग्नि में डाल दिया। "6 फरवरी 1928 या 1929 (सन्) के अन्तिम सप्ताह में गंगादत्त जी की मृत्यु हो गई।"[2] पंत के जीवन में यह सबसे बड़ा दुःख था। साल-दो साल तक पंत उद्विग्न रहे। इस अकेलेपन ने ही पंत को विश्व-जीवन को समझने के लिए अनुप्रेरित किया। "उस भावातिरेकपूर्ण मनःस्थिति की अवधि में ही उनकी मित्रता श्री पूरनचंद जोशी से हो गई।"[3]

"पंत जी और जोशी निरन्तर सम्पर्क में 1924 से 1929 में आये। जोशी जी होस्टल में रहते और पंत पास में ही 3, म्योर रोड में रहते थे।"[4]

पंत का कहना है कि उनके भावाक्रांत मन को श्री जोशी के यथार्थ दृष्टि-कोण से बाह्य विस्तार मिला। उनके मन में मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक विकास की धारणाएँ प्रस्फुटित होने लगीं।

"पंत के जीवन का विशेषतः 1926 से 1930 तक का काल अत्यधिक अभिशप्त रहा। अंधकार, संघर्ष, परिस्थिति की सहनीयता, आर्थिक संघर्ष, आत्मीयजनों का बिछोह और मूक रुदन यही सब तो इस काल का चक्र था।"[5]

---

1. पी० सी० जोशी का पत्र—नवम्बर, 1969—शांति जोशी, पृ० 224।
2. पंत की जीवनीकार शांति जोशी ने 'सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य' के पृष्ठ 217 पर गंगादत्त जी के स्वर्गवास का वर्ष 1928 लिखा है, किन्तु पृ० 225 पर 1929 लिखा है।
3. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 230।
4. पत्र—नवम्बर, 1969—शांति जोशी, पृ० 231-232।
5. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 233।

रिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी—वातावरण में नैराश्य और अवसाद छा गया था। कर्ज का बोझ घर तथा कुल के सम्मान को धक्का पहुँचाकर मिट सकता था। बाबू ने कर्ज को निपटाने के लिये अपने ऊपरी व्यवहार तथा व्यक्तित्व में बिना किसी प्रकार की कटुता या क्षोभ लाये अपनी जमीन, जायदाद, घर आदि सभी कुछ बेंच दिया। कर्ज की बात बाहर फैलते ही अचल सम्पत्ति का मूल्य एकदम गिर गया।"[1] जून सन् 1926 में अल्मोड़ा का देवी भवन बिक गया। इससे पंत को आघात लगा।

गंगादत्त जी तीसरी मंजिल की सीढ़ियों से फिसल गये थे और 3-4 माह तक चारपाई पर पड़ गये। लेकिन पंत और उनके दो अग्रज अल्मोड़ा न जा सके, क्योंकि रघुवरदत्त जी को टाइफाइड हो गया था। उस समय (सन् 1927 में) टाइफाइड असाध्य रोग माना जाता था। पंत को अपने भाई के साथ एकाएक आनेवाली पारिवारिक कठिनाइयों का अनुभव हुआ। यह वह समय था जब पंत जी को यथार्थ को समझना था। उनके सामने भावात्मक तथा आर्थिक दोनों पक्ष की कठिनाई थी। उस समय (सन् 1927 में) उनकी आर्थिक स्थिति कितनी खराब थी, कैसे वे दुःखी थे इसका वर्णन स्वयं उन्होंने किया है—

> "अगस्त सन् 1953 की बात है। पंत अश्क जी के यहाँ जाने के लिए तैयार होकर अपने कमरे से नीचे उतरे। सफेद पैंट पहन रखी थी। वे अपने भाँजे बद्रीदत्त से कहने लगे कि यह पैंट 1927 की है। तब मैं दुनिया का सबसे गरीब आदमी था। सभी प्रकार से थका हारा, घर बिक चुका था, भाई टाइफाइड में पड़े थे। मेरे पास न पहनने के कपड़े थे न भाई की दवा के लिए पैसे। पटल बाबू से 'पल्लव' तथा 'वीणा' का पारिश्रमिक अग्रिम माँगा और तब कुछ कपड़े बनवा सका। भाँजे ने पूछा कि बड़ा मोटा खुरदरा है, कपड़ा बड़ा सस्ता होगा 4-6 आने गज। तो पंत ने उत्तर दिया कि उस समय बाजार में मैं सबसे सस्ता कपड़ा ढूँढ़ा करता था।"[2]

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 215-216।
2. वही, पृ० 221-222।

सन् 1927 अक्तूबर को भाई रघुदत्त की मृत्यु हो गई। पंत को जीवन की निस्सारता का पहलेपहल बोध हुआ। यह एक भावात्मक आघात था।

इसी बीच पूरनचंद जोशी भी पंत के ही कमरे में अपना काम करते थे और श्री जोशी के समस्त पत्र और कागजात पंत के ही पास रहते थे। "उन दिनों में पंत जी पी० सी० जोशी से बहुत बहस करते तथा मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन की पुस्तकें तथा पुस्तिकाएँ जोशी से लेकर पढ़ते।"[1]

सन् 1929 की 20 मार्च को होस्टल में विदेशी कपड़े जलाये गये। पंत ने भी अपना विदेशी वस्त्र का कोट अग्नि में डाल दिया। "6 फरवरी 1928 या 1929 (सन्) के अन्तिम सप्ताह में गंगादत्त जी की मृत्यु हो गई।"[2] पंत के जीवन में यह सबसे बड़ा दुःख था। साल-दो साल तक पंत उद्विग्न रहे। इस अकेलेपन ने ही पंत को विश्व-जीवन को समझने के लिए अनुप्रेरित किया। "उस भावातिरेकपूर्ण मनःस्थिति की अवधि में ही उनकी मित्रता श्री पूरनचंद जोशी से हो गई।"[3]

"पंत जी और जोशी निरन्तर सम्पर्क में 1924 से 1929 में आये। जोशी जी होस्टल में रहते और पंत पास में ही 3, म्योर रोड में रहते थे।"[4]

पंत का कहना है कि उनके भावाक्रांत मन को श्री जोशी के यथार्थ दृष्टि-कोण से बाह्य विस्तार मिला। उनके मन में मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक विकास की धारणाएँ प्रस्फुटित होने लगीं।

"पंत के जीवन का विशेषतः 1926 से 1930 तक का काल अत्यधिक अभिशप्त रहा। अंधकार, संघर्ष, परिस्थिति की सहनीयता, आर्थिक संघर्ष, आत्मीयजनों का बिछोह और मूक रुदन यही सब तो इस काल का चक्र था।"[5]

---

1. पी० सी० जोशी का पत्र—नवम्बर, 1969—शांति जोशी, पृ० 224।
2. पंत की जीवनीकार शांति जोशी ने 'सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य' के पृष्ठ 217 पर गंगादत्त जी के स्वर्गवास का वर्ष 1928 लिखा है, किन्तु पृ० 225 पर 1929 लिखा है।
3. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 230।
4. पत्र—नवम्बर, 1969—शांति जोशी, पृ० 231-232।
5. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 233।

पंत अपनी फुफेरी बहन की लड़की सीमा को पहुँचाने शान्तिनिकेतन गये। वहाँ रवीन्द्रनाथ से मिले। उन दिनों पंत की रुचि मार्क्सवाद की ओर अधिक थी। "पश्चिम के ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा जैन-शास्त्र सम्बन्धी विचार-धाराओं के कारण तब के बदलते हुए जीवन मूल्यों के दृष्टिकोण के बारे में मैंने कवीन्द्र से पूछा तो उन्होंने हँसी में टालते हुए कहाकि — ना बाबा उसके बारे में तुम्हीं सोचो।·········तुम्हीं अपनी पीढ़ी की समस्याओं से जूझो और उनके बारे में लिखो।"[1]

अप्रैल 1930 के अन्त में पंत अल्मोड़ा आ गये और देवी भवन में भाई देवीदत्त के पास रहने लगे। अल्मोड़ा में पंत का मन प्रसन्न न रह सका, किन्तु दुःखी भी न था। विश्व की गुत्थियों को सुलझाने में सक्रिय था। यहाँ उन्होंने फ्रायड एवं मार्क्स का गम्भीर अध्ययन किया। पंत को मार्क्सवाद का आर्थिक पक्ष समझने में उनके भाई देवीदत्त से सहायता मिली। वैसे इस विचारधारा से वे पूरनचंद जोशी के सम्पर्क में रहने के कारण परिचित थे। जीवन के कटु अनुभवों तथा मार्क्सवाद ने पंत के वैचारिक जगत् में एक अन्य प्रकार की भी क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

सन् 1930 में पंत जी कुँअर सुरेशसिंह के अतिथि के रूप में कालाकांकर पहुँचे। कालाकांकर में पंत जी ने गाँव के यथार्थ को देखा। "मैंने········ भारतीय गाँवों की अकथनीय अकिंचनता अथवा दरिद्रनारायण के दरबार के दर्शन करने का अवसर पाया जिससे मेरी आँख खुली······मेरे सभी पाठक जानते हैं कि कालाकांकर के ग्राम-जीवन के महान् सम्पर्क का प्रभाव मेरी जीवन दृष्टि का एक अनिवार्य अंग ही बन गया है। युगवाणी और ग्राम्या ही में नहीं उसके बाद की रचनाओं में भी किसी न किसी रूप में और लोकायतन में विशेष रूप से उस दृष्टि की व्यापक छाप मिलती है।"[2]

सन् 1926 से 1940 तक का समय पंत के जीवन का महत्वपूर्ण समय है। इस समय ने उन्हें कल्पना के आकाश में उड़ान भरने के स्थान पर यथार्थ की भूमि पर खड़ा कर चलना सिखाया और उन्हें जीवन की विषमता को समझाया और मानवीय संवेदना के स्पर्श से काव्य-चेतना को अनुप्राणित किया।

---

1. शिल्प और दर्शन, पृ० 345—शांति जोशी द्वारा उद्धृत।
2. सुमित्रानन्दन पंत : जीवनी और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 260-261।

पंत धरती को सुन्दर तथा मंगलमय बनाना चाहते थे। 'ज्योत्स्ना' का भू-स्वर्ग उनके इसी प्रयत्न का परिणाम है।

"कालाकांकर में अनेक साहित्यकारों के साथ-साथ सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनन्द भी पंत के साथ रहे हैं।"[1] प्रकाशचन्द गुप्त के अनुसार पंत जी से उनका प्रथम साक्षात्कार 1929-30 में भवानीशंकर के निवासस्थान पर हुआ था। 1933 में (गुञ्जन के प्रकाशन के वर्ष भर बाद) पंत ने कुँवर सुरेशसिंह की पत्नी प्रकाशवती पर एक कविता लिखी। कविता में प्रकाशवती के सौंदर्य और गुणों का वर्णन करते हुए भी गाँवों की दुर्दशा की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना नहीं भूले—

"कालाकांकर में ही देखो,
कितने हैं निःसहाय, निर्धन,
मिलता भरपेट न अन्न जिन्हें
दुर्लभ है वस्त्र, स्वप्न भूषण।
शिक्षा की उनके कौन कहे,
वे पशु हैं पशु भी उनसे नर,
है अंधकार उनके भीतर,
चिर अंधकार उनके बाहर।"[2]

कालाकांकर में राजा साहब गाँवों में स्वयंसेवकों का संगठन करने जाते थे। पंत जी भी इनके साथ जाते। इससे यह लाभ हुआ कि गाँवों के जीवन की पृष्ठभूमि में मार्क्सवाद के आर्थिक एवं सामाजिक सत्य को समझना उनके लिये आसान हो गया और गाँवों में जाने के साथ वे ग्रामीण जीवन से भी परिचित हो गये जिससे पंत को यथार्थ की अनुभूति गहन हो गयी। यहाँ पंत ने मार्क्सवाद से सम्बन्धित किताबों का गहन अध्ययन किया। कालाकांकर में पंत के निवासस्थान का नाम 'नक्षत्र' था। यहाँ का प्राकृतिक परिवेश अत्यन्त एकान्त था।

पंत ने उस मनःस्थिति के विषय में बतलाया है जिसने उन्हें ज्योत्स्ना का प्रतीकात्मक गद्य नाटक लिखने की प्रेरणा दी—"सन् 1925 से

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 264।
2. श्री सुमित्रानन्दन पंत : स्मृति चित्र में कुँवर सुरेशसिंह द्वारा प्रकाशित कविता, पृ० 32।

लेकर 1927 तक अपने भाई देवीदत्त तथा पूरनचन्द जोशी के निकटतम साहचर्य के कारण मैं राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक विचारधाराओं के सम्पर्क में भी आ गया था और जोशी तथा भाई से मार्क्सवाद तथा गाँधीवाद आदि के नैतिक, आर्थिक तथा लोकमंगल सम्बन्धी पक्ष के बारे में प्रायः तर्क, विचार-विनिमय तथा बहसें छिड़ जाती थीं। कालाकांकर में गाँवों के दैन्य, अशिक्षा तथा अंध जड़ रूढ़िगत जीवन-परिपाटी को देखकर मार्क्सवाद, गाँधीवाद आदि के विचार, भाव-प्रणाली सक्रिय रूप से मन में उठने लगी और वर्तमान गाँवों की परिस्थिति के भीतर से अपना समाधान तथा उत्तर माँगने लगी। अतः उच्च व्यक्तित्व सम्बन्धी अपनी अन्तःसाधना के साथ ही मेरे मन में लोकजीवन तथा जनमंगल के लिये उपयोगी भावधारा का आकर्षण भी प्रतिदिन बढ़ने लगा। वर्तमान विश्व परिस्थितियों के ज्ञान की पृष्ठभूमि में मैंने अपनी आदर्शवादी विचारधारा तथा चिंतन को युगजीवन के यथार्थ में मूर्त कर 'ज्योत्स्ना' के रूप को जन्म दिया था।"[1]

ज्योत्स्ना में पंत आने वाले विश्वजीवन के अपने स्वप्न को प्रकट करते हैं। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा लोकजीवन सम्बन्धी अपनी धारणाओं और उस मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक आदर्श को पंत ने नाट्य-शिल्प के रूप में प्रस्तुत किया है।

ज्योत्स्ना का उनके काव्य-सृजन में अधिक महत्व होने का कारण यह है कि यह उनके भविष्य में आने वाले मानसिक वैभव की पृष्ठभूमि के समान है।

सन् 1934 में पंत अल्मोड़ा आ गये। इस अवधि में पंत ने मार्क्स, फ्रायड, युंग आदि का विशिष्ट एवं गम्भीर अध्ययन किया। मार्क्स की विचार-धारा के मूलगत तत्वों की पृष्ठभूमि में युग के जीवन को समझने का उनका मानसिक प्रयास भी चल रहा था। कालाकांकर-प्रवास ने इस प्रयास को स्पष्ट तथा सक्रिय बना दिया। "गाँधी जी के क्रियाशील व्यक्तित्व तथा असहयोग आन्दोलन में भारतीय आदर्शवाद की ओर, जो एक नवीन तथा सक्रिय रूप में प्रकट हो रहा था, मेरी दृष्टि कालेज छोड़ने के बाद सदैव जागरूक रही किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 306-307।

ओर धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन भावात्मक दर्शन को जन्म दिया उस सबकी सम्मिलित प्रतिक्रिया-स्वरूप विश्व-कल्याण तथा लोक-मानवता के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गई।''[1]

'युगान्त' तथा 'पाँच कहानियाँ' में पंत जी ने बदले हुए दृष्टिकोण को, जो यथार्थोन्मुख था, वाणी देने की चेष्टा की है। सन् 1931 में ताकुला में गाँधी जी के दर्शन हुए। इस बार की भेंट में गाँधी जी ने उनके मनोजगत पर गहरा प्रभाव छोड़ा। सन् 1935 के बाद के 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण' व 'लोकायतन' इस प्रभाव की पुष्टि करते हैं।

सूर्यप्रकाश दीक्षित का कथन है—"इसके (पाँच कहानियाँ) विषय व्यक्ति, परिवार और समाज की समस्याओं तक व्याप्त हैं। यत्र-तत्र इनमें कल्पना, सौंदर्य तथा काव्यात्मक सरसता भी समाविष्ट हुई है। प्रस्तुत कहानि‍यां प्रायः अनुभूतिपूर्ण हैं। इनमें लेखक की सूक्ष्म निरीक्षण कला द्रष्टव्य है।''[2]

'युगान्त' के प्रकाशन के बाद, यानी सन् 1936 के बाद पंत फिर कालाकांकर आ गए और सन् 1940 तक यहीं रहे। यहाँ आकर पंत जी ने पुनः मार्क्सवाद से सम्बन्धित आधुनिक विचारधारा का अध्ययन किया और फिर ग्रामों को अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से देख—ग्रामीणों से मिलकर उनकी मनःस्थिति को ज्ञात किया।

''इस युग में मार्क्सवादी विचारों का महत्व तथा सच्चाई पंत के मन में अंकित हो चुकी थी और गाँधीवाद का सांस्कृतिक, नैतिक पक्ष, व्यक्तिवादी साधना का दर्शन होने के कारण, उस समय के देशकाल की स्थिति में प्रीतिकर होने पर भी पंत को मार्क्सवाद का ही आर्थिक सामाजिक पक्ष उपयोगी लगा। प्रगतिशील आंदोलन कुछ समय बाद सैद्धान्तिकता एवं नारेबाजी के कारण मरणासन्न हो गया अतः पंत ने नारों में सीमित प्रगतिवादी आंदोलन से सक्रिय सम्बन्ध न रखा।''[3]

---

1. साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत, पृष्ठ 48-49।
2. पंत का गद्य, सूर्यप्रकाश दीक्षित—पृष्ठ 81।
3. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृष्ठ 391।

कालाकांकर का यह दूसरी बार आगमन पंत के लिए अच्छा शिक्षाप्रद रहा। इन्हें इसी बीच सामाजिक मूल्यों, लोक-जागरण सम्बन्धी नये सिद्धान्तों पर विचार करने का अवसर मिला। गाँव में पंत ने जो विपन्नता देखी उससे उनके मन में विश्वप्रेम एवं यथार्थ तथा लोकमंगल की भावना के बोध का जागरण हो गया। 1938 में पंत ने प्रगतिशील मासिक पत्र 'रुपाभ' का संपादन किया, जो एक साल तक प्रकाशित होता रहा और फिर आर्थिक कठिनाइयों के कारण जिसे बंद करना पड़ा।

इसी बीच पंत जी रघुपतिसहाय, यदुपतिसहाय, शमशेर, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद गुप्त आदि के निकट सम्पर्क में आए। प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक पंत जी के घर होती थी। कालाकांकर के इस दूसरे प्रवास में पंत जी ने 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' का प्रणयन किया।

जिस प्रकार पंत जी अपने व्यक्तिगत जीवन में पिता तथा सम्बन्धियों की मृत्यु और आर्थिक संकट और मानसिक उथल-पुथल के दौर से गुजर रहे थे उसी प्रकार सम्पूर्ण देश कठिनाइयों के दौर से गुजर रहा था। पंत जी 1918 के उपरांत बनारस चले आए थे और फिर उसके बाद उनका निवास प्रयाग तथा कालाकांकर में था। बनारस, प्रयाग और कालाकांकर—ये तीनों ही स्थान ऐसे हैं जहाँ देश की धड़कन बहुत स्पष्ट सुनाई देती थी। प्रयाग राष्ट्रीय आंदोलनों से जुड़ा हुआ था। कालाकांकर का राज परिवार अपने देश-प्रेम एवं भाषा-प्रेम के लिये विख्यात रहा है। महात्मा गाँधी और महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे देश और भाषा-साहित्य के नेताओं ने इस परिवार की भरपूर प्रशंसा की है।[1] स्वाभाविक है कि पंत जी को राष्ट्रीय परिवर्तनों को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला।

---

1. "देशप्रेम की ज्योति···कालाकांकर राजा अवधेशसिंह (राजा रामपाल सिंह के पौत्र) सबसे आगे है।"—महात्मा गाँधी—'नवजीवन' 5-12-1929 का अंक।
"राजा रामपाल सिंह को अपनी मातृभाषा से निरतिशय प्रेम है।··· वे हजारों रुपये खर्च करके कोई अठारह वर्षों से 'हिन्दोस्थान' दैनिक पत्र हिन्दी में निकाल रहे हैं। वे उच्च कोटि के लेखक हैं और हिन्दी के साथ ही अँग्रेजी, फारसी तथा संस्कृत का उन्हें अच्छा ज्ञान है।" —महावीरप्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', मई, 1904।

1921 में छेड़ा गया असहयोग आंदोलन 4 फरवरी, 1922 को हुई 'चौरी-चौरा' की घटना के कारण अचानक वापस ले लिया गया। आंदोलन के चरम सीमा पर पहुँचने के साथ ही उसे वापस ले लेने से सारे देश में निराशा की लहर फैल गई। स्वयं जवाहरलाल ने इस संबंध में लिखा है—"जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक्त जब हम अपनी स्थिति मजबूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे हमारी लड़ाई बन्द कर दी गई है तो हम बिगड़े।"[1] 10 मार्च, 1922 को गाँधी जी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें 6 साल की सजा सुना दी गई। इस प्रकार हमारा राष्ट्रीय आंदोलन शिथिल पड़ गया और 1922 के बाद पाँच-सात साल तक देश में कुछ भी नहीं हो सका।

राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं आर्थिक क्षेत्र में भी यह युग कठिनाइयों का था। 1929 से 1931 के बीच 154 भारतीय बैंकों का दिवाला निकला।[2] इसी बीच भूमिहीन किसानों की संख्या में वृद्धि हुई और किसानों पर ऋण का बोझ लगभग पचास प्रतिशत बढ़ गया।[3] 1928-29 में भारत का निर्यात 339 करोड़ रुपये का था, जों 1932-33 में घटकर केवल 135 करोड़ रुपये का रह गया।

स्पष्ट है कि देश में धीरे-धीरे एक कसमसाहट शुरू हुई। भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने 8 अप्रैल, 1929 को केन्द्रीय धारासभा में बम फेंककर भारतीय जनता के क्षोभ को प्रकट किया। 1929 के अंत में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में महात्मा गाँधी ने जवाहरलाल नेहरू को अध्यक्ष मनोनीत किया। 31 दिसम्बर, 1929 की आधी रात के समय रावी नदी के तट पर पं० जवाहरलाल ने स्वतंत्रता का झण्डा फहराया। 26 जनवरी, 1930 को स्वतंत्रता दिवस मनाया गया और सारे देश में नारों तथा गाँवों में सभाएँ करके स्वतंत्र होने की प्रतिज्ञा की गई।[4] इस प्रकार देश में फिर से आशा की एक लहर व्याप्त हो चली थी। 1934 ई० में कांग्रेस के भीतर ही समाजवादी दल का गठन हुआ। 1936 ई० में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। प्रेमचन्द

1. ए कन्टम्प्रेरी हिस्ट्री आफ इन्डिया, पृष्ठ 108।
2. वही, पृष्ठ 100-101।
3. वही, पृष्ठ 107।
4. भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास—द्वितीय भाग, पृष्ठ 449।

के सभापतित्व में लखनऊ में इसका पहला अधिवेशन हुआ। दूसरा अधिवेशन 1938 ई० में कलकत्ता में हुआ, जिसकी अध्यक्षता रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने की थी (यद्यपि अस्वस्थता के कारण वे आ न सके और उनका वक्तव्य अधिवेशन में रखा गया)। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के कुछ पहले से ही हिन्दी में प्रेमचन्द के उपन्यास और उनके संपादकत्व में निकलने वाले 'जागरण' तथा 'हंस' नाम के पत्र प्रगतिशील आंदोलन की भूमिका तैयार कर चुके थे। 'हंस' जून, 1930 से निकलना शुरू हुआ था।[1] यह एक साहित्यिक मासिक पत्र था। 'जागरण' एक राजनीतिक साप्ताहिक पत्र था, जिसका प्रकाशन 1932 से प्रारम्भ हुआ था और जिसे आचार्य नरेन्द्रदेव एवं प्रेमचन्द निकालते थे। यह पत्र 21 मई, 1934 के अंत तक प्रकाशित होता रहा।[2] इन पत्रों में समाजवाद, साम्यवाद और सोवियत रूस के संबंध में सहानुभूतिपूर्ण टिप्पणियों का प्रकाशन भी होता था। स्वभावतः इस पृष्ठभूमि की उपेक्षा करना पंत जी जैसे ग्रहणशील व्यक्तित्व के लिये संभव न था।

इस प्रकार पंत के व्यक्तिगत जीवन की आर्थिक कठिनाइयाँ, भाई देवीदत्त तथा पी० सी० जोशी का सम्पर्क, साम्यवादी सिद्धांत ग्रन्थों का अध्ययन, कालाकांकर के अपने लम्बे दो प्रवासों में ग्राम्य-जीवन के दर्शन, राष्ट्रीय आंदोलन, राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक संकट, 'हंस' तथा 'जागरण' जैसे पत्रों के द्वारा निर्मित हुई पृष्ठभूमि, देश की राजनीतिक धारा का समाजवाद की ओर उन्मुख होना आदि स्वभावतः उन्हें 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना-भूमि में ले गया।

● ●

1. अमृतराय द्वारा संपादित 'विविध प्रसङ्ग', पृष्ठ 493।
2. वही, पृष्ठ 537 और 545।

अध्याय 2

साम्यवाद-प्रगतिवाद
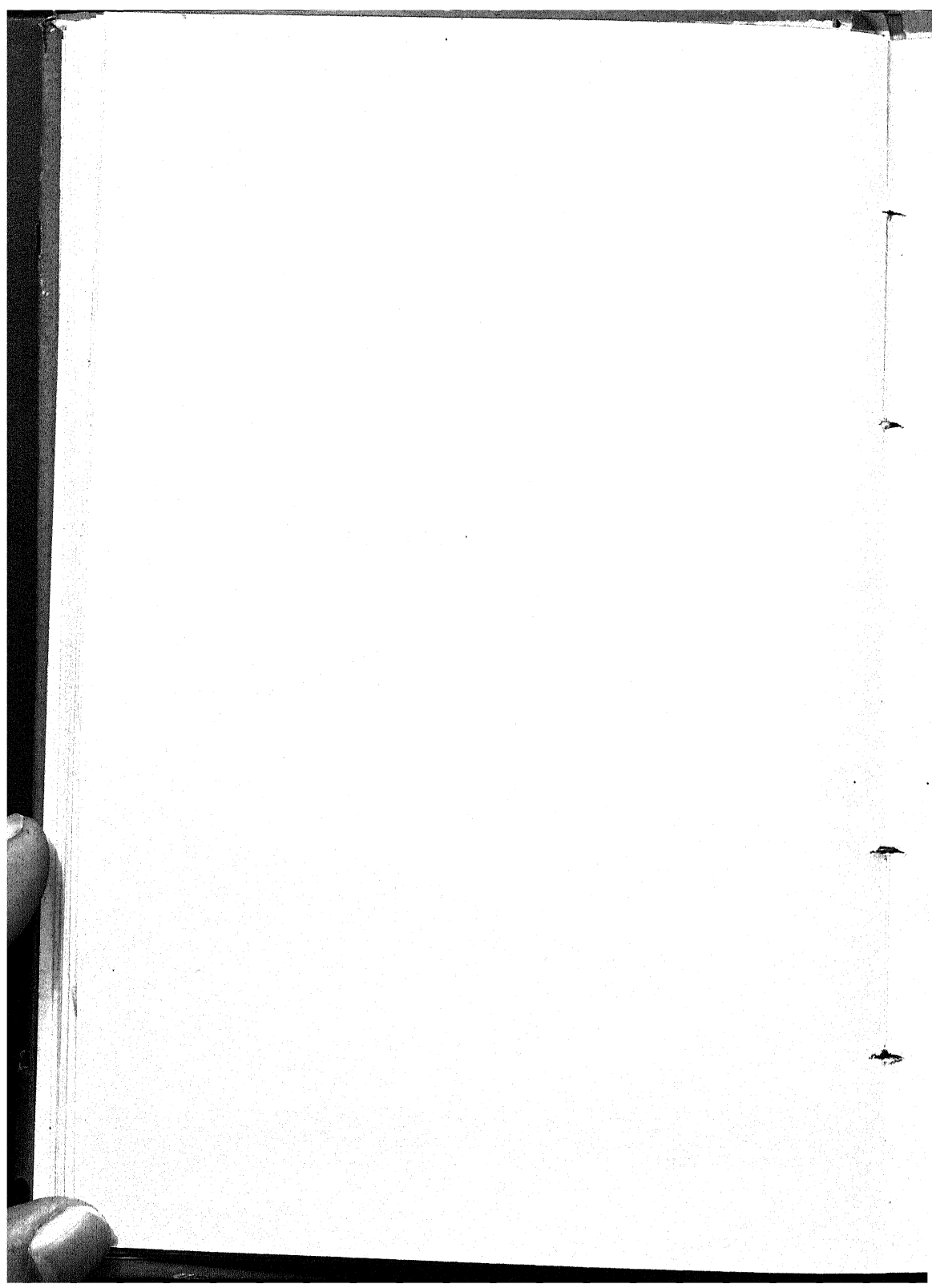
साम्यवाद : आदिम समाज की आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी थी। भूमि पर प्रायः पूरे ग्राम का अधिकार होता था। प्राचीन यूनान में स्पार्टा एवं कुछ अन्य राज्यों में नागरिक सार्वजनिक भोजनालयों में ही भोजन करते थे। इसके साथ-साथ धार्मिक समुदायों में भी प्रायः साम्यवाद का अनुकरण किया जाता था। "राजनीति-चिंतन के इतिहास में भी साम्यवाद की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। प्लेटो की प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में परिवार तथा सम्पत्ति के समाजीकरण के संबंध में जो विचार हैं, उनमें भी साम्यवाद की झलक पाई जाती है। यद्यपि प्लेटो की साम्यवादी कल्पना तथा आधुनिक साम्यवाद की विचारधारा का एक रूप नहीं है।"[1] अरस्तू ने भी समानता के महत्व को बताया और विषमता को क्रांति का कारण माना। रोम के विधि-विशेषज्ञों के भाषणों में एवं मध्यकाल के क्रिश्चियन धर्म के प्रादुर्भाव के पश्चात् क्रिश्चियन धर्म की विचारधारा में ऐसी आर्थिक व्यवस्था का विरोध किया गया है, जिसमें एक वर्ग के पास अधिक धन हो और दूसरे के पास कम।

18 वीं शताब्दी के फ्रांस के विचारकों के चिंतन में भी साम्यवादी तत्व पाये जाते हैं। "इस प्रकार औद्योगिक क्रांति के पूर्व कुछ विचारकों ने साम्य-वादी दृष्टिकोण अपनाया और साम्यवादी दिशा में सोचा, परन्तु इस काल में साम्यवाद का कोई व्यवस्थित रूप हमारे समक्ष नहीं आया।"[2]

औद्योगिक क्रांति (जो 18 वीं शताब्दी के अंत में इंग्लैण्ड में प्रारम्भ हुई) से उत्पादन एवं वितरण के साधनों की व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। मशीनी-करण के कारण पूँजी के बल पर पूँजीपतियों ने उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर अपना अधिकार कर लिया। समाज में शोषक एवं शोषित दो वर्ग

---

1. राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत, इकबालनारायण सहायक कामताप्रसाद —पृष्ठ 94-95।
2. वही—पृष्ठ 96।

बन गये । पूँजीपति मजदूरों का मनमाना शोषण करने लगे, जिसके कारण वर्ग-संघर्ष की प्रवृत्ति का जन्म हुआ । यह आधुनिक साम्यवादी विचारधारा के वैज्ञानिक विकास की पृष्ठभूमि थी ।

साम्यवादी विचारधारा को प्रोत्साहित करने का श्रेय औद्योगिक क्रांति को दिया जा सकता है । इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के अनेक विचारकों के चिंतन में साम्यवाद के तत्व मिलते हैं । किन्तु उनके चिंतन की कमी यह है कि उसमें साम्यवादी विचारधारा को क्रियान्वित कर सकने वाले साधनों पर प्रकाश नहीं डाला गया है । इस कमी को मार्क्स (1818-1883) ने दूर किया । "मार्क्स ने अपने साम्यवाद की नींव समाज की प्रवृत्तियों के विश्लेषण पर रखी है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि समाज में कार्यशील शक्तियों की प्रगति साम्यवाद की ओर हो रही है और इस कारण साम्यवाद की स्थापना अवश्यम्भावी है । इसलिये मार्क्स के अनुयायी उसके साम्यवाद को वैज्ञानिक कहते हैं ।"[1]

मार्क्स पहला दार्शनिक है, जिसने साम्यवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया । मार्क्स ने साम्यवादी विचारधारा को क्रियान्वित करने के साधन भी बताए । "···यही कारण है कि उसे वैज्ञानिक समाजवाद तथा साम्यवाद का निर्माता कहा जाता है ।"[2]

मार्क्स तथा उसका मित्र इंगेल्स मात्र ग्रन्थकार न थे, अपितु उन्होंने श्रमिक और क्रांतिकारी आन्दोलनों का नेतृत्व भी किया और अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की ।

कार्ल मार्क्स के विचारों पर निम्नलिखित बातों का प्रभाव पड़ा :—

1. औद्योगिक क्रांति का प्रभाव—18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कई महत्वपूर्ण आविष्कार हुए । भाप की शक्ति द्वारा परिचालित मशीनों का निर्माण हुआ । इससे पूर्व उत्पादन मनुष्य एवं पशुओं की शक्ति से होता था, किन्तु अब यांत्रिक शक्ति का उपयोग होने लगा ।

---

1. आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद, महादेवप्रसाद शर्मा—पृ० 200 ।
2. राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत, इकबालनारायण सहायक कामताप्रसाद —पृष्ठ 97 ।

"प्राणि शक्ति के स्थान में यांत्रिक शक्ति द्वारा उत्पादन होने के महान् परिवर्तन को ही औद्योगिक क्रांति कहा जाता है।"[1]

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मशीनों का आविष्कार हुआ और इस कारण कारखाने स्थापित हुए। कारखानों से वस्तुएँ अधिक मात्रा में एवं सस्ती बनने लगीं। हाथ से कार्य करने वाले मजदूरों को काम मिलना बन्द हो गया। फलस्वरूप बेकारी बढ़ने लगी। काम की, रोजी रोटी की तलाश में लोग गाँव से नगर आने लगे। नगरों का विस्तार हुआ। काम कम एवं मजदूर अधिक होने से पूँजीपतियों ने इस स्थिति का लाभ उठाया और मजदूरी की दरें कम कर दीं। मजदूरों से 18 घण्टे काम लिया जाने लगा। इस शोचनीय स्थिति का अध्ययन मार्क्स ने किया और ऐसी स्थिति उत्पन्न होने के कारण की वैज्ञानिक खोज की एवं उसके निवारण के लिये साम्यवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया। "वास्तव में मार्क्स को हम औद्योगिक क्रांति का दार्शनिक और साम्यवाद को उस क्रांति का दर्शन कह सकते हैं।"[2]

2. उस समय व्यक्तिवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसका प्रभाव मार्क्स के विचारों पर पड़ा। व्यक्तिवादी व्यवस्था में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना हुई थी और इस व्यवस्था में श्रमिकों का शोषण पूँजीपति लोग मनमाने ढङ्ग से करने लगे थे। शनैः-शनैः इस व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और यह विचार जोर पकड़ता गया कि वस्तुओं तथा सम्पत्ति का मूल्य सामाजिक व्यवस्था का अङ्ग है। इसके निर्धारण में समाज का हाथ होना चाहिये, कुछ व्यक्तियों का नहीं। "इस प्रकार समाजवाद का जन्म हुआ। मार्क्स का साम्यवाद इसी का विशिष्ट रूप है।"[3]

3. मार्क्स के समय हेगेल के दर्शन का शोर था। मार्क्स ने भी हेगेल के दर्शन का अध्ययन किया और उससे स्फूर्ति प्राप्त की। "पर उसने हेगेल के दर्शन के बाहरी ढाँचे मात्र को स्वीकार किया, उसके प्राणों को नहीं।" हेगेल ने अपने दर्शन में द्वन्द्वात्मक विकास की बात कही है और विश्वात्मा को उसके विकास का कारण बताया है। मार्क्स अनात्मवादी था। मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्वात्मक विकास-

---

1. आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद, महादेवप्रसाद शर्मा—पृष्ठ 201-202।
2. वही, पृष्ठ 202।
3. राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत, इकबालनारायण सहायक कामताप्रसाद —पृष्ठ 98।

वाद को तो मान्य किया, पर उसने हेगेल के विश्वात्मा के सिद्धांत के स्थान पर भौतिक पदार्थ की प्रतिष्ठा की। आत्मा के सिद्धांत को मार्क्स ने काल्पनिक कहा। इस प्रकार मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्वात्मक आत्मवाद के बजाय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अपने दर्शन का आधार बनाया। हेगेल का मत था कि भौतिक वस्तुएँ आत्मा से उत्पन्न हैं, पर मार्क्स का मत था कि आत्मा स्वयं भौतिक शरीर से उत्पन्न वस्तु है। इस तरह मार्क्स का दर्शन हेगेल के दर्शन का उल्टा है। 'कैपिटल' की भूमिका में मार्क्स ने स्वयं लिखा है कि "मैंने हेगेल के दर्शन को सिर (मस्तिष्क, आत्मा) के बल खड़ा पाया, मैंने उसे पैरों के बल (पृथ्वी पर, भौतिकता के आधार पर) खड़ा कर दिया।"[1] मार्क्स के दर्शन का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार विश्व का आधार पदार्थ है। पदार्थ का आन्तरिक स्वभाव है कि वह विकसित होकर अनेक रूप धारण करता है। भौतिक पदार्थ में एक आन्तरिक विरोध होता है, जिसके द्वारा विकास संचालित होता है। इससे मार्क्स के दर्शन का क्रान्तिकारी रूप स्पष्ट हो जाता है। जो कुछ भी विकास होगा, वह आन्तरिक संघर्ष द्वारा ही होगा। "हिंसा, पीड़ा, बल-प्रयोग उसके आवश्यक अंग हैं। हमें यह अच्छा लगे या न लगे, पर प्रकृति का नियम यही है। माता की प्रसव-पीड़ा के बिना बालक का जन्म नहीं होता।"[2]

इस प्रसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद लेनिन के शब्दों में विकासवाद का सिद्धान्त है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन मुख्य नियम हैं—(1) विकासक्रम पेंचकश की गरारियों की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी, चक्करदार, पर निरन्तर ऊपर चढ़ती रेखा की भाँति है। प्रत्येक चक्कर या घुमाव वाद, प्रतिवाद और संवाद—इन तीन कड़ियों से बना है। प्रत्येक कड़ी अपने पूर्व की कड़ी का निषेध करती है, पर प्रत्येक चक्कर के अंत में हम थोड़ा ऊपर उठ जाते हैं। समस्त प्रकृति में इसी क्रम से परिवर्तन चल रहा है। यह नियम हमें विकास की क्रिया के सोपान

---

1. I found the Hegelian dialectic standing on its head, I put it down on its feet.
2. आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद, महादेवप्रसाद शर्मा—पृष्ठ 205।

(**Stages**) और उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताता है। सूत्र रूप में इस नियम को निषेध के निषेध का नियम कह सकते हैं। (**2**) गतिशीलता विरोध-मय है। अतः विकास आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है। यह नियम हमें बताता है कि आन्तरिक विरोध द्वारा परिवर्तन-क्रिया कैसे संचालित होती है। इसे सूत्र रूप में हम विरुद्ध भावों के सामंजस्य का नियम कह सकते हैं। (3) मात्रा में बड़ा अंतर होने से गुण में भी अंतर पड़ जाता है। यह नियम हमें बताता है कि मात्रा-परिवर्तन से गुण-परिवर्तन होकर आन्तरिक विरोध उत्पन्न होता है। इस नियम को मात्रा-परिवर्तन वाला नियम कह सकते हैं। मार्क्स ने इन नियमों का सामाजिक परिवर्तनों को स्पष्ट करने में उपयोग किया।

कार्ल मार्क्स के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों के तीन आधारभूत सिद्धान्त हैं—(**1**) इतिहास की भौतिक व्याख्या, (**2**) मूल्य का श्रम सम्बन्धी सिद्धान्त, (3) हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का अवश्यम्भावी पतन।

(1) **इतिहास की भौतिक व्याख्या**—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार जिस प्रकार संसार के अन्य परिवर्तन होते हैं, वैसे ही मानव-इतिहास की गतिविधि भी भौतिक प्रभाव द्वारा ही निश्चित होती है और मार्क्स के अनुसार आर्थिक प्रभाव या दूसरे शब्दों में उत्पादन-प्रणाली का प्रभाव इतिहास की घटनाओं को मुख्यतया निर्धारित करता है। मार्क्स के अनुसार इतिहास के सभी बड़े-बड़े परिवर्तन उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन के कारण ही हुए हैं। सामाजिक संगठन में उसके विभिन्न वर्गों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन उत्पादन-प्रणाली के प्रत्येक परिवर्तन के साथ होता है।

(2) **मूल्य का श्रम सिद्धान्त**—मार्क्स का मत है कि मूल्य की उत्पत्ति श्रम से होती है। किसी भी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल पर निर्भर है। यह बात अवश्य है कि श्रम अकेला मूल्य की उत्पत्ति नहीं कर सकता। उसे कच्चा माल और मशीनें चाहिये। इन वस्तुओं की समष्टि का नाम ही पूँजी है। पूँजी के उपयोग से ही श्रम मूल्य की सृष्टि कर सकता है। पूँजी भी एकत्रित श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। श्रमजीवियों ने परिश्रम करके जो मूल्य अर्जित किया है, उसे बचाकर उत्पादन में लगाते हैं। यही पूँजी है। इस पर श्रमजीवियों का अधिकार होना चाहिये। पर पूँजीपतियों

ने अन्याय से इसे अपने अधिकार में कर लिया है। इस शोषण से ही उनके पास पूँजी एकत्रित हुई। यह शोषण का कुचक्र बहुत समय से चल रहा है और मौलिक स्वार्थ विरोध के कारण समझौता नहीं होता। अतः पूँजीपतियों और श्रमिकों का सम्बन्ध पारस्परिक संघर्ष का है और उनमें वर्ग-युद्ध चलते रहना अनिवार्य है।

(3) **हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का अवश्यम्भावी पतन**—पूँजीवादी व्यवस्था सदैव नहीं रह सकती, क्योंकि उसमें कई आन्तरिक विरोध हैं। जैसे—(1) पूँजीपति एवं श्रमिक वर्ग का स्वार्थ विरोध एवं वर्ग-युद्ध, (2) उत्पादन वितरण का संतुलन न होना। नये-नये आविष्कारों के होने से उत्पादन शक्ति बढ़ती जाती है और धन पूँजीपतियों के पास बढ़ता जाता है, लेकिन मजदूर निर्धन ही रहते हैं। जनता की आय कम होने से वे अधिक क्रय नहीं कर पाते, अत: मंदी का आर्थिक संकट समय-समय पर उत्पन्न हुआ करता है। इसके आगे अपने देश में खपत न होने से पूँजीवादी देश अन्य देशों के बाजार में अपना प्रभाव जमाने की चेष्टा करते हैं। इससे साम्राज्यवाद का जन्म होता है, समस्त संसार साम्राज्यवादी देशों में बँट जाता है। "लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का अंतिम सोपान कहा है।"[1] साम्राज्य भी चरम सीमा पर पहुँचता है तो साम्राज्यवाद के विस्तार की सम्भावना नहीं रहती। फिर साम्राज्यवादी देश एक दूसरे से साम्राज्य छीनने को आपस में झगड़ते हैं। विश्वयुद्ध प्रारम्भ होता है और युद्ध के परिणामस्वरूप पूँजीपति वर्ग निर्बल हो जाता है, श्रमिक वर्ग के कष्ट और बढ़ जाते हैं। अत: ऐसे संकट-काल में श्रमजीवी कष्टों को सहन न करने के कारण हिंसात्मक क्रान्ति कर देता है और पूँजीपति वर्ग तथा पूँजीवादी व्यवस्था को मूल से नष्ट कर देता है। इस प्रकार पूँजीवाद का नाश होकर उसके स्थान पर श्रमजीवी वर्ग के आधिपत्य की स्थापना होती है और समाजवादी व्यवस्था का निर्माण होता है।

मार्क्स के बाद भी साम्यवादी विचारधारा की गति जारी रही। 1917 में रूस की क्रांति हुई। क्रांति के नेता लेनिन ने साम्यवादी विचारधारा को क्रियान्वित करते समय उसमें जो त्रुटियाँ एवं अभाव देखे, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार साम्यवादी सिद्धांत को व्यावहारिक दृष्टिकोण से

---

1. आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद, महादेवप्रसाद शर्मा—पृष्ठ 212।

पूर्ण बनाने का प्रयास हुआ। साम्यबाद के सिद्धांत में लेनिन का यही महत्व है। लेनिन के बाद स्तालिन (1879-1953) ने साम्यवादी रूस का नेतृत्व किया। उनके काल में भी साम्यवादी विचारधारा के विकास का क्रम जारी रहा। मार्क्स ने इस विचारधारा को वैज्ञानिक तथा निश्चित रूप प्रदान किया, तो लेनिन एवं स्तालिन ने इसे व्यावहारिक बनाया। अभी तक यह विचारधारा विकास की प्रक्रिया में है। स्तालिन के पश्चात् ख्रुश्चेब के नेतृत्व में साम्यवाद का संशोधन प्रारम्भ हुआ। इनके पश्चात् कोसीगिन ने सामूहिक नेतृत्व प्रारम्भ किया। साम्यवाद के साधन और उद्देश्य हैं—(1) श्रमिकों का संगठन, (2) वर्ग संघर्ष, (3) सर्वहारा अधिनायकतन्त्र की स्थापना, (4) राज्य का अंत।

(1) **श्रमिकों का संगठन**—पहला कदम पूँजीपतियों के विरोध में श्रमिकों का संगठन करना है। इसके लिये साम्यवादी दल का निर्माण किया जाता है तथा इस दल में श्रमिकों को इस ढङ्ग से संगठित किया जाता है कि श्रमिकों की अपने दल के प्रति निष्ठा बनी रहे और उनके मस्तिष्क दासता की भावना से मुक्त हो सकें, वे अपने व्यक्तित्व को पहचान सकें और पूँजीपति का विरोध करने को तैयार रहें।

(2) **वर्ग संघर्ष**—श्रमिकों के संगठित होने के पश्चात् उनका दूसरा कदम यह रहता है कि श्रमिक क्रांति करें। क्रांति के द्वारा वे समस्त साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं। साम्यवादी क्रांति के लिये हिंसा एवं बल को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार क्रांति होना स्वाभाविक है। साम्यवादियों द्वारा क्रांति की प्रक्रिया को विस्तृत रूप से इस प्रकार से दर्शाया गया है कि उसकी स्वाभाविकता स्पष्ट हो जाय।

(3) **सर्वहारा अधिनायकतन्त्र की स्थापना**—साम्यवादियों का तीसरा कदम सर्वहारा अधिनायकतन्त्र की स्थापना है। क्रांति के बाद आर्थिक शक्ति पर मजदूरों का अधिकार होने के कारण राज्य की शक्ति भी श्रमिकों के हाथ में आ जाएगी, जिसके अधिनायकतन्त्रीय प्रयोग द्वारा श्रमिकों का संगठन वर्गहीन एवं राज्यहीन समाज की स्थिति लाने की दिशा में प्रयास करेगा और ऐसी स्थिति लाने के लिये वह किन्हीं भी उपायों को काम में लाएगा, चाहे वे कितने ही उग्र क्यों न हों। पूँजीवाद के सब तत्वों को इन उपायों से समाप्त

कर दिया जाएगा। वर्गहीन एवं राज्यहीन समाज की स्थापना की दिशा में यह संक्रमण काल होगा। इस काल में सर्वहारा अधिनायकतन्त्र वितरण की उचित व्यवस्था करेगा, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करेगा। राज्य का यह रूप क्रांतिकारी अधिनायकतन्त्रीय, किन्तु अस्थायी होगा।

(4) **राज्य का अन्त**—साम्यवादी समाज की स्थापना के मार्ग का अन्तिम चरण है राज्य का लुप्त हो जाना। साम्यिवादियों के अनुसार जो साम्यवादी समाज सर्वहारा अधिनायकतन्त्र के माध्यम से स्थापित होगा, वह पूर्ण स्वतंत्र समाज होगा अर्थात् व्यक्ति पर किसी प्रकार के वाह्य बंधन एवं नियन्त्रण की आवश्यकता न रहेगी। और इसलिये राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। वह स्वयमेव समाप्त हो जायेगा।

आज अनेक देशों में साम्यवादी सरकारें और प्रायः सभी देशों में साम्यवादी दल स्थापित हैं। संसार की लगभग आधी जनसंख्या साम्यवाद में दीक्षित है और शेष आधी का भी चिन्तन-मनन तथा व्यवहार साम्यवाद से अछूता नहीं है।

साम्यवाद का प्रभाव भारत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (स्थापना 1885) के माध्यम से हुआ। जवाहरलाल नेहरू ने रूस की यात्रा की। आगे चलकर कांग्रेस के भीतर ही एक समाजवादी दल की स्थापना हुई। "भारत में साम्यवादी दल की स्थापना 1934 में हुई।"[1] साम्यवाद अब केवल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है। वह जीवन का एक सांगोपांग दर्शन बन गया है। जीवन के सभी विषयों में उसका एक अपना दृष्टिकोण है और एक नई सभ्यता के रूप में उसका प्रसार हो रहा है। राजनीत्येतर और अर्थेतर क्षेत्रों में भी उसकी मौलिक धारणाएँ हैं। उदाहरण के लिये वह किसी एक निरपेक्ष और शाश्वत तत्व के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। आत्मा, परमात्मा में विश्वास नहीं करता। धर्म उसकी दृष्टि में अफीम है, जिससे जनता की क्रान्तिकारी चेतना दब जाती है। आचार के नियमों को भी वह शाश्वत नहीं मानता। उसकी दृष्टि में ईमानदारी, सत्य, कृतज्ञता, अहिंसा, दया, सतीत्व आदि पूँजीवादी आदर्श हैं। साहित्य और कला का विश्लेषण भी वह अपनी दृष्टि से करने में समर्थ है।

---

1. Organised in its present form in 19:4.—Hindustan year book 1957—S. C. Sarkar, P. 1 6.

स्वभावतः इतने सांगोपांग दर्शन से साहित्य भी प्रभावित हुआ। संसार के अनेक साहित्यकार साम्यवादी दल के सदस्य बन गए और अनेक ने उसके चिन्तन को आत्मसात कर लिया। साहित्य में साम्यवादी दृष्टि को अवतरित करने के लिए संगठित यत्न भी किए गए। परिणामस्वरूप अगस्त, 1934 ई० में सोवियत लेखक संघ का पहला अधिवेशन मैक्सिम गोर्की की अध्यक्षता में हुआ जिसमें चालीस विदेशी अतिथि लेखकों ने भी भाग लिया। 1935 ई० में पेरिस में प्रगतिशील लेखकों की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना हुई और इसी वर्ष इसके पहले अधिवेशन की अध्यक्षता अँग्रेजी के उपन्यासकार ई० एम० फार्स्टर ने की। इसके अगले वर्ष ही भारत में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई।[1] इन संगठनों से साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य-सृजन को और अधिक बल मिला। हिन्दी में इस साहित्य प्रवृत्ति को प्रगतिवाद नाम दिया गया। प्रगतिवाद मूल रूप से साम्यवादी विचारधारा की स्थापना करने का एक सशक्त माध्यम था।[2]

प्रगतिवाद—बोलचाल की भाषा में प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना लिया जाता है और इसके अनुसार जो साहित्य हमारे जीवन को आगे बढ़ाता है वह प्रगतिशील साहित्य कहा जा सकता है। प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना तो है पर यह आगे बढ़ना एक विशिष्ट दिशा में एक विशेष ढङ्ग से होता है। और इसकी एक विशेष परिभाषा है, जिसका आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था समाज का आधार अर्थ है। प्रगतिवादी अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष में से केवल एक के अस्तित्व को स्वीकार करता है और वह है अर्थ।

वर्तमान समय में पूँजीवाद और साम्यवाद दो विरोधी शक्तियाँ हैं। पूँजीवाद विनाश की ओर उन्मुख है और साम्यवाद विकास की ओर। प्रगति-

1. प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन अखिल भारतीय आंदोलन था। इस तरह का कोई भी साहित्यिक आन्दोलन उस समय देश में न था। इस आंदोलन में यह क्षमता थी कि वह भारत की विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जनता और उसके साहित्यकारों को एक दूसरे के निकट लाकर देश की एकता दृढ़ करे।—रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 138।
2. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1—धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 511।

वादी साम्यवाद का पोषण करते हैं और पूँजीवाद का विरोध। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "बल्कि यों कहिये कि प्रगतिवाद साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। साहित्य सामाजिक कर्म-विधान का एक सक्रिय अंग है। अतएव उसे समाज व्यवस्था के संरक्षण में वांछित सहयोग देना चाहिये। हमारे समाज की जाग्रत शक्तियाँ वे लोग हैं जो अब तक दलित और शोषित रहे हैं। प्रगतिवादी साहित्य उनकी सहायता करता है, उनके पक्ष में आन्दोलन करता है, उनकी शक्ति को संगठित करता है, उनकी पीड़ा को मुखर करता है और उन पर होने वाले अत्याचार का तीव्र विरोध करता है।"[1] इस प्रकार प्रगतिवाद में मानववाद, देश-भक्ति आदि भी आ जाती है। पर ये तत्व प्रगतिवाद के अनिवार्य तत्व नहीं हैं।

चूँकि प्रगतिवाद साम्यवाद का साहित्यिक संस्करण है अतः वह साहित्य को सामाजिक चेतना मानता है वैयक्तिक नहीं। और यह साम्यवाद के अनुरूप व्यक्ति के सुख-दुःख को महत्व न देकर समाज के सुख-दुःख को महत्व देता है। वह सौन्दर्य को अपने हृदय में न देखकर समाज के स्वास्थ्य में देखता है— "दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है।"[2]

साहित्य के प्रति दृष्टि के बदल जाने से आदर्श एवं मूल्य भी बदल गये हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का अर्थ बदल गया है। प्रगतिवादी सत्य का अर्थ भौतिक वास्तविकता, शिव का अर्थ भौतिक जीवन और सुन्दर का अर्थ स्वाभाविक, प्रकृत मानते हैं। प्रगतिवादी क्षुधा एवं काम जैसी स्वस्थ मानव-प्रवृत्तियों को प्रकृत रूप में निःसंकोच होकर व्यक्त करता है।

यह नहीं कि केवल विचार ही बदले हैं वरन् विचारों के साथ-साथ अभिव्यंजना भी बदली और कला के प्रति यह दृष्टिकोण कि केवल सुन्दर, स्वरूपवान ही साहित्य का विषय बन सकता है, बदला और कहा जाने लगा कि ललित कला वह है जो कुत्सित कुरूप जग का रूप-निर्माण करे।

प्रगतिवादियों का यह तर्क है कि जीवन में सब कुछ सूक्ष्म, कोमल, सुन्दर, सुगढ़ ही नहीं है। जीवन में विसंगतियाँ, अनगढ़ एवं स्थूल भी है। और स्वस्थ

1. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 100।
2. वही, पृ० 101।

जीवन-दर्शन वही है जो जीवन की वास्तविकता को स्वीकार करे (भले हो वह स्थूल अनगढ़ हो)। इसलिये साधारण स्वस्थ जन-जीवन से प्रगतिवादी अपनी अभिव्यक्ति के उपकरण लेने लगे। "एक शब्द में कला विलास, रूप-रंग और रोमांस से प्रेम नहीं करती।—अतएव प्रगतिवादी अभिव्यक्ति खरी, खड़ी और तीखी होती है क्योंकि वह मुख्यतः भावात्मक न होकर आलोचनात्मक है।"[1]

सन् 1930 ई० के आसपास छायावाद के गर्भ से एक साहित्यधारा का जन्म हुआ जो नवीन सामाजिक चेतना से युक्त थी। ऐसी सामाजिक चेतना से युक्त साहित्यधारा को सन् 1936 में प्रगतिशील साहित्य या प्रगतिवाद के नाम से अभिहित किया गया।

प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य एक है या उनमें भेद है—इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान् मानते हैं कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का नाम प्रगतिवाद है और प्राचीन काल से •लेकर अब तक की समूची साहित्य परम्परा ही प्रगतिशील साहित्य है और क्योंकि उनके अनुसार समूची साहित्य परम्परा ही प्रगतिशील साहित्य है, इसलिये केवल छायावाद के उपरांत की साहित्यिक प्रवृत्ति के लिये वे 'प्रगतिशील साहित्य' नाम अनुचित मानते हैं। दूसरे विद्वानों की यह राय है कि मार्क्सवादी साहित्य सिद्धांत और इस सिद्धांत के अनुसार रचित साहित्य प्रगतिवाद है और छायावाद के पश्चात् व्यापक सामाजिक चेतना वाला सम्पूर्ण साहित्य प्रगतिशील साहित्य है और इस प्रगतिशील साहित्य में विभिन्न राजनीतिक मत होने के बावजूद एक मानवतावादी भावना है और इस प्रकार इनके अनुसार प्रगतिवाद संकुचित तथा साम्प्रदायिक है और प्रगतिशील साहित्य व्यापक एवं उदार। वे यहाँ तक कहते हैं कि प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा निर्धारित एवं प्रचारित साहित्य प्रगतिवाद है और शेष सभी साहित्य प्रगतिशील साहित्य है। श्री नामवरसिंह दोनों को एक मानते हुए कहते हैं—"लेकिन जिस तरह छायावाद और छायावादी• कविता भिन्न नहीं है उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं है। वाद की अपेक्षा शील को अधिक अच्छा व उदार समझकर इन दोनों में भेद करना कोरा बुद्धि-विलास है।"[2] यह प्रसंग हमारे काम का नहीं, अतः इसे यहीं समाप्त करते हैं।

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 102।
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—नामवरसिंह, पृष्ठ 57।

यूरोप में ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि समाज तथा साहित्य में कुछ ह्रास हो रहा है या दूसरे शब्दों में एक तरह की स्थिरता आ गई है। ऐसी स्थिति से निकलने के लिये यूरोप के लेखकों ने प्रगति का नारा दिया। इसी के समानान्तर हिन्दी में भी छायावाद का विकास लगभग रुक-सा गया था। हाँ, यूरोप जैसा एकदम गतिरोध न था। यह सन् 1936 के आसपास की बात है। इस समय यूरोप से लौटे हिन्दुस्तानी लेखकों ने प्रगति की आवाज लगाई और छायावादी कवियों को यह आवाज अपने अन्तर की प्रतिध्वनि प्रतीत हुई।

"प्रगतिवाद के प्रति प्रारम्भ में जितनी ललक कवियों की रही उतनी उपन्यासकारों की नहीं। उपन्यासकारों के लिये यह सन्देश बहुत नया नहीं था, क्योंकि उपन्यास का जन्म ही सामाजिक यथार्थ को लेकर हुआ था··· इस कुतूहलहीनता के बावजूद उपन्यासकारों ने दिल खोलकर प्रगतिशीलता का स्वागत किया।"[1]

आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद का सबसे अधिक स्वागत हुआ। छायावादी जीवनदृष्टि अधिकांशतः कविता के क्षेत्र में ही व्यक्त हुई जबकि प्रगतिवादी दृष्टि साहित्य की विभिन्न विधाओं (कविता, उपन्यास, आलोचना) में अपनी अभिव्यक्ति करने लगी।

कुछ लेखक प्रगतिवाद का विरोध करते हुए कहते हैं कि मार्क्सवाद पर आधारित होने के कारण एवं फ्रांस के विदेशी वातावरण में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ से इसका सूत्रपात हुआ, अतः यह अभारतीय एवं विदेशी विचार-धारा है। किंतु अगणित लेखकों एवं पाठकों ने प्रगतिवादी साहित्य को उत्साह-पूर्वक अपनाया। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह अभारतीय नहीं, वरन् भारतीय है। भारत में इसके लिये एक पृष्ठभूमि निर्मित हुई थी, जिसके परिणामस्वरूप प्रगतिवाद का जन्म हुआ।

हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस में सन् 1930 तक आते-आते वाम-पक्षी दल स्थापित हो गया था। कांग्रेस के प्रस्तावों में हिन्दुस्तान के श्रम-जीवी जन-समूह संबंधी चर्चा होने लगी थी और किसान मजदूर आन्दोलन में काफी जोर आ गया था। उस समय के साहित्य में इस राजनीतिक जागृति की छाया पड़ने लगी थी। क्या उपन्यास, क्या कविता, क्या आलोचना—सब

---

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—नामवरसिंह, पृष्ठ 59।

पर राजनीतिक जागृति का प्रभाव था। "प्रेमचन्द सन् 1930 में 'गबन' उपन्यास लिखते हुए देवीदीन खटिक के मुँह से बड़े लोगों के सुराज की आलोचना तथा श्रमजीवियों के सुनहले भविष्य के विषय में भविष्यवाणी करवाते हैं कि अभी दस-पाँच बरस चाहे न हो, लेकिन आगे चलकर बहुमत किसानों और मजदूरों ही का हो जावेगा। प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में भी इस उभरते हुए वर्ग की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कविता में भी कल्पना के स्थान पर ठोस वास्तविकता और वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता का आग्रह सन् 1930 के बाद से ही बढ़ने लगा था। आलोचना में आचार्य शुक्ल लोक-मंगल की साधनावस्था पर जोर दे रहे थे और इस तरह साहित्य के सामाजिक मूल्यांकन के लिये मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।"[1] ऐसी सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थिति में प्रगतिवाद का जन्म युग की आवश्यकता थी। उस समय लेखकों ने उत्साह से प्रगतिवाद को अपनाया। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि प्रगतिवाद भारतीय साहित्य-परम्परा की स्वाभाविक आवश्यकता थी।

प्रगतिवाद के नाम पर प्रारम्भ में पंत, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, नवीन, अमृतलाल नागर, निराला आदि ने जो कुछ लिखा उस पर छायावाद का प्रभाव दिखता है।

प्रगतिवाद के प्रारम्भ में अध्यात्मवाद, अराजकतावाद, विकृत यथार्थवाद अथवा प्राकृतिकतावाद जैसी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। उनसे मार्क्सवाद का कोई निकट का संबंध नहीं है। हिन्दी लेखकों ने मार्क्सवादी प्रभाव को एक सीमा में ही स्वीकार किया था, वह सीमा थी—अपने व्यक्तिवादी और भाववादी संस्कारों की। इन लेखकों के अतिरिक्त जो लेखक स्वयं को शुद्ध मार्क्सवादी कहते थे, उनमें भी भाववादी तथा व्यक्तिवादी संस्कारों के अवशेष थे। ऐसी ही बात आलोचकों के संबंध में भी है। कुछ आलोचकों ने अपने को मार्क्सवादी सिद्धांतों में निपुण समझा। उनकी यह प्रगतिशीलता कदाचित् व्यक्तिवादी संस्कारों की ही प्रतिक्रिया का फल है। "आरम्भिक प्रगतिवाद की इन तमाम दुर्बलताओं से भी यही प्रमाणित होता है कि वह हिन्दी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है। जिस तरह प्रगतिवाद में पूर्ववर्ती साहित्य परम्परा की सामाजिक चेतना वाले तत्वों का विकास हुआ, उसी

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—नामवरसिंह, पृष्ठ 61।

तरह उसके व्यक्तिवादी, भाववादी संस्कारों की भी छाया बहुत दिनों तक पड़ती रही। ये दोनों बातें सिद्ध करती हैं कि प्रगतिवाद का उद्भव और विकास अपनी ही सामाजिक व साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रगतिवादी विचारधारा विदेशी न होकर भारतीय ही है।

प्रगतिवाद के इतने वर्षों का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के विकास के नैरन्तर्य का इतिहास है जो राजनीतिक जागरण से आरम्भ हुआ था और विस्तृत होता हुआ जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर, आदर्शवाद से प्रारम्भ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर, यथार्थवाद से शुरू होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है। इस तरह प्रगतिवादी ,साहित्य निरन्तर सरिता के समान विकासशील धारा है न कि सरोवर के समान कोई स्थिर मतवाद।

● ●

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—नामवरसिंह, पृ० 63।

अध्याय 3

युगांत

'युगांत' का रचना-काल 1934 से 1936 है, यद्यपि इसमें एक रचना 1930 की भी सम्मिलित कर दी गई है। इसका प्रकाशन 1936 के अन्त में प्रथम बार इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स, अल्मोड़ा से हुआ। इसमें छोटी-बड़ी कुल 33 रचनाएँ संकलित हैं।

'युगांत' सुमित्रानन्दन पंत का ही नहीं हिन्दी का भी प्रथम प्रगतिवादी कविता-संकलन है। इसके पूर्व की मध्ययुगीन तथा आधुनिकयुगीन कुछ कवि-ताओं में प्रगतिवादी चेतना की स्फुट झलक तो है या कुछ कविताएँ ही प्रगति-वादी विचारधारा को व्यक्त करती हैं। लेकिन एक विधिवत् संकलन के रूप में वे नहीं हैं। केवल इतना ही नहीं 'युगांत' के पूर्व इस प्रकार की समान विचारधारा वाली विभिन्न कवियों की कविताओं का भी कोई संकलन हिन्दी में नहीं है। ऐसी स्थिति में 'युगांत' निश्चय ही हिन्दी में प्रगतिवाद का प्रवर्तक काव्य-संकलन है। 'युगांत' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी में प्रगतिवाद की चर्चा व्यापक रूप में आरम्भ हुई। 'युगांत' नामकरण से ही यह बोध होता है कि उसके प्रकाशन के द्वारा स्वयं पंत जी ने जैसे एक युग—छायावादी युग—का अन्त कर दिया।

प्रगतिवादी विचारधारा का प्रथम काव्य-संकलन होने के कारण 'युगांत' में कुछ दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक है। इसमें पंत जी के पुराने काव्य-संस्कार भी यत्र-तत्र उभरे हुए रूप में मिलते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु किसी कवि के काव्य-विकास का अध्ययन करते समय हमारी दृष्टि उसके काव्य में विद्यमान विकासमान तत्वों पर ही होना चाहिये। 'युगांत' इस बात का साक्षी है कि कैसे कोई कवि अपनी पुरानी काव्य-भूमि से हटकर नयी काव्य-भूमि पर आने का यत्न कर रहा है। पंत जी में यह बदलाव आकस्मिक नहीं है। 'युगांत' के पूर्व 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना' एवं 'पाँच कहानियाँ' की रचना वे कर चुके थे और अपनी इन तीन कृतियों में वे एक नयी बौद्धिक चेतना और दार्शनिकता से समन्वित दिखाई देते हैं। किन्तु यह

कहना उचित नहीं कि 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना' और 'पाँच कहानियाँ' तथा दूसरी ओर 'युगांत' की भावभूमि एक ही है। जब हम कहते हैं कि पंत जी में यह बदलाव सर्वथा आकस्मिक नहीं है तो हमारा आशय केवल इतना ही है कि पंत जी, जो कि 'गुञ्जन' के पूर्व भावना के क्षेत्र के ही कवि थे, 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना' और 'पाँच कहानियाँ' में चिंतन के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और इस क्षेत्र से फिर 'युगांत' के क्षेत्र में आना चिंतन से चिंतन के क्षेत्र में आना ही है। किन्तु 'ज्योत्स्ना' तथा 'पाँच कहानियाँ' में जो चिंतन है उससे बहुत भिन्न चिंतन 'युगांत' में मिलता है। ऐसी स्थिति में डॉ० यशदेव का यह कथन—"युगांत किसी भी पहलू से प्रगतिवादी कृति नहीं, उसका कोई चिह्न भी नहीं। यह गुञ्जन और ज्योत्स्ना में कार्यशील प्रवृत्तियों का ही विकास है।"[1] "युगांत' के साथ न्याय नहीं करता। 'गुञ्जन' और 'युगांत' के भाव-क्षेत्रों का अंतर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समीक्षक की दृष्टि में भी आया है—"गुञ्जन तक वह जगत् से अपने लिये सौन्दर्य और आनन्द का चयन करता प्रतीत होता है, युगांत में आकर वह सौन्दर्य और आनन्द का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है।"[2]

'युगांत' में प्रगतिशील दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट रूप से विद्यमान है। पहली ही कविता में हमें यह विदित हो जाता है कि पंत का दृष्टिकोण अब पल्लव या गुञ्जन-युगीन नहीं है—

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र।"[3]

यहाँ पंत जी ने परिवर्तन का शीघ्रातिशीघ्र घटित होने के लिये आह्वान किया है। अतीत के प्रति यह मोह-त्याग स्वभावतः एक स्वस्थ प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। यदि हम उनके इस दृष्टिकोण की तुलना उनके पल्लव-युगीन दृष्टिकोण से करें तो दोनों दृष्टिकोणों का विराट् अंतर एकदम स्पष्ट हो जायेगा। पल्लव का दृष्टिकोण परिवर्तन-विरोधी है। 'परिवर्तन' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता में कवि स्थान-स्थान पर इस बात के लिये दुःखी है कि परिवर्तन हो रहा है और सब कुछ व्यतीत हुआ जाता है—

1. पंत का काव्य और युग, पृष्ठ 156।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत 2005, पृष्ठ 709।
3. युगांत, पृष्ठ 9।

"अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल
कचों के चिकने काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार
गूंजते हैं सब के दिन चार
सभी फिर हाहाकार।"[1]

'युगांत' में नवीनता के प्रति आग्रह, जाति, वर्ण-भेद आदि संकीर्णताओं का विरोध, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होने की कामना, आशावादी दृष्टिकोण, मनुष्य की क्षमताओं पर विश्वास आदि अनेक स्थलों पर अत्यन्त सहज रूप में विद्यमान मिलता है। यद्यपि यह सही है कि ग्राम्य जीवन, कृषक जीवन, वर्ग-संघर्ष, आर्थिक तथा सामाजिक शोषण के वृहत् चित्र इस कृति में नहीं हैं। फिर भी यह विषय 'युगांत' में सर्वथा अनुपस्थित भी नहीं है। उदाहरण के लिये तेरहवीं कविता में श्रमजीवियों का चित्र द्रष्टव्य है—

"ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन! भारी पग।"[2]

वस्तुतः प्रगतिवादी रचनाओं के संदर्भ में 'युगांत' के महत्व को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। "पंत जी की प्रगतिशील रचनाओं में युगांत का वही प्रारम्भिक स्थान है जो छायावाद काल में उनकी 'वीणा' का। 'वीणा' में अस्पष्ट सौन्दर्य-बोध था, युगांत में अस्पष्ट युग-बोध। एक में छायावाद का शैशव था दूसरे में प्रगतिवाद का बाल्यकाल। वीणा का विकास पल्लव और गुञ्जन में हुआ, युगांत का विकास युगवाणी और ग्राम्या में।"[3]

'युगांत' की सम्पूर्ण कविताओं को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

1. जागरण प्रवृत्ति-प्रधान रचनाएँ,

---

1. पल्लविनी, पृष्ठ 174।
2. युगांत, पृष्ठ 25।
3. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन,—संपादिका शचीरानी गुर्टू, पृष्ठ 233।

2. प्रेमगीत और
3. प्रकृति चित्रण की रचनाएँ ।

अपेक्षा की दृष्टि से देखें तो सर्वाधिक प्रगतिशील दृष्टिकोण जागरण प्रवृत्ति-प्रधान रचनाओं में ही है ।

जागरण प्रवृत्ति-प्रधान रचनाओं में कवि प्राचीनता को निर्भीक उतार फेंकना चाहता है, क्योंकि वह पुरातन को प्रगति का बाधक समझने लगता है । वह नवीनता के प्रति आकर्षित होता है । उसे चाहने लगता है । पंत की ये जागरण प्रवृत्ति-प्रधान रचनाएँ प्रगति पथ की ओर जागरूक हैं और क्रांति भावनामूलक विचारधारा का भार उठा सकने में समर्थ प्रतीत होती हैं ।

प्रेमगीत—इस वर्ग में मात्र एक कविता है—'मंजरित आम्रवन छाया में' । इसमें प्रेम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण है । उनका यह संस्कार ग्राम्या तक चला जाता है ।

प्रकृति चित्रण सम्बन्धी कविताओं में प्रकृति का नया रूप देखने को मिलता है । कवि प्रकृति में अपने प्रणय-व्यापार की स्मृतियों को नहीं पाता वरन् प्रकृति के प्रत्येक उपादान को क्रांति का अग्रदूत समझता है ।

साम्यवादी तथा प्रगतिवादी चिंतन में पुरानी एवं जड़ व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिये क्रांति एक अनिवार्य अस्त्र है । इससे यदि प्राचीन व्यवस्था का कुछ अच्छा भी नष्ट होता हो तो भी क्रांति वरेण्य है । 'युगांत' में पंत ने बसन्त के दूत कोकिल के माध्यम से इसी क्रांति का आह्वान किया है—

' गा कोकिल बरसा पावक कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ।''[1]

उन्होंने नवीन को अग्नि के पाँव धारण करके आने का निमन्त्रण दिया है ।[2] स्पष्ट है कि 1935 के पंत क्रांति-विश्वासी हैं । यह बात भिन्न है कि आगे चल कर जब उनकी विचारधारा ने फिर एक नया मोड़ लिया तो इस क्रान्ति के साथ हृदय-परिवर्तन आदि की बातें भी जोड़ दीं । "बाह्य क्रांति के साथ ही मेरा मन अंतः क्रांति का, नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक उपलब्धि

1. युगांत, पृष्ठ 10 ।
2. 'पावक पग धर आवे नूतन', युगांत, पृष्ठ 10 ।

का भी आकांक्षी बन जाता है।"[1] "बाहरी क्रांति की आवश्यकता की पूर्ति मेरा मन नवीन मनुष्यता की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है।"[2] लेकिन इस प्रकार के कथनों को परवर्ती कथनों के रूप में ही लिया जाना चाहिये। पंत की प्रगतिवादी रचनाओं के पीछे उनका अध्ययन, चिंतन और व्यक्तिगत जीवन का अनुभव है इसलिये उनका क्रांति का आह्वान वैसा अराजकतावादी नहीं है जैसा नवीन तथा अन्य कुछ राष्ट्रीयतावादी कवियों में दिखाई देता है। क्रांति का आह्वान विनाश के लिये नहीं बल्कि इसलिये किया गया है कि उसी से नयी स्वस्थ व्यवस्था के जन्म लेने की सम्भावना है। वे कहते हैं—

"हो पल्लवित नवल मानवपन।

× × ×

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर पल्लव लाली।"[3]

प्रगति के संबंध में प्राचीन धारणा यह थी कि मानव समय के साथ-साथ पतन तथा विनाश की ओर जा रहा है। भारत में भी प्रगति के विषय में यह प्राचीन धारणा थी कि सर्वप्रथम सत्ययुग था और इसके बाद समय के साथ पतन होता गया और त्रेता, द्वापर तथा कलियुग आया। किन्तु प्रगतिवादियों के अनुसार मानव का विकास पतन या बुराई की ओर नहीं अच्छाई की ओर हो रहा है और यही दृष्टिकोण हमें पंत में भी मिलता है। विकास अच्छाई की ओर हो रहा है इस बात को पंत ने 'झर पड़ता जीवन डाली से' नामक रचना में कहा है—

"झर पड़ता जीवन डाली से
मैं पतझड़ का-सा जीर्ण पात।
केवल केवल जग कानन में
लाने फिर से मधु का प्रभात।"[4]

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृष्ठ 342।
2. वही, पृष्ठ 342।
3. युगांत, पृष्ठ 9।
4. वही, पृष्ठ 12।

यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। प्रगतिवादी जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण अधिक आवश्यक मानता है, सुन्दर, भव्य एवं उदात्त का चित्रण नहीं। वर्तमान जीवन में दैन्य, दुःख, शोषण, कठोरता तथा कुरूपता ही अधिक दिखाई देती है। फलस्वरूप प्रगतिवादी साहित्य में भी उनकी यथार्थ अभिव्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। पंत जी की रचनाओं में भी प्रगतिवादोचित यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखाई देता है। 'ताज' नामक कविता उनकी इसी यथार्थवादी दृष्टि की परिचायक है। "इसमें कवि ने जीवन को उसकी यथार्थता में चीन्हा है।"[1]

"मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति।

× × ×

शव को दें हम रूप रंग आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?"[2]

'युगांत' में कवि स्वयं कलाकार है। इसके बावजूद भी वह कला की अपेक्षा जीवन को महत्व देता है। उसे ताज का कलात्मक रूप आकर्षित नहीं करता प्रत्युत उसे कलापूर्ण दीवारों में से उन्हें बनाने वाले श्रमिक वर्ग का हाहाकार सुनाई देता है और यही उसका प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। प्रगतिवादी कला को कला के लिये नहीं जीवन के लिये मानते हैं।

प्रगतिवाद में साहित्य का सम्बन्ध किसान, मजदूर और सम्पूर्ण शोषित वर्ग से माना जाता है। इसके फलस्वरूप कविता में प्रथम बार व्यापक सहानुभूमि का प्रवेश हुआ। सामान्य व्यक्ति भी काव्य का विषय बना। पंत ने भी अपनी रचना में सामान्य व्यक्ति को स्थान दिया। उन्हें संध्या के झुरमुटे में चिड़ियों के चहकने के साथ घर की ओर कदम बढ़ाते हुए श्रमजीवी दिखाई पड़ गए—

"ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन भारी पग।"[3]

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृष्ठ 347।
2. युगांत, पृष्ठ 47।
3. वही, पृष्ठ 25।

प्रगतिवाद में वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई और उसमें रूढ़ियों पर प्रहार हुए। धर्म एवं नीति की धारणा पर आक्रमण हुए। प्रगतिवादी धर्म को अफीम का नशा कहते हैं। मानव के विकास के मार्ग में वे इन विकृतियों को बाधक मानते हैं। पंत की 'शत बाहु पाद' कविता में इसी प्रकार का प्रगतिवादी दृष्टिकोण है—

"शत मिथ्या वाद विवाद तर्क,
शत रूढ़ि नीति, शत धर्म द्वार,
शिक्षा, संस्कृति, संस्था, समाज,
यह पशु मानव का अहंकार।"[1]

इन्हें दूर करने को कवि कहता है—

"गा कोकिल, भर स्वर में कंपन
झरें जाति कुल वर्ण-पर्ण धन
अंध नीड़ से रूढ़ि रीति छन
व्यक्ति राष्ट्र-गत राग द्वेष रण
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण।"[2]

प्रगतिवादी मानव में विश्वास करते हैं। प्रगतिवादी कविताओं में मानव का गौरव-गान है। पंत भी 'मानव' कविता में मानव को सर्वश्रेष्ठ कह कर उसके गुण गा रहे हैं—

"सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम्
निर्मित सबकी तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।"[3]

मानव की महत्ता और उसकी क्षमताओं तथा उसके भविष्य में एक आस्था प्रगतिशील कविता का एक महत्वपूर्ण विषय है जो हमें पंत के 'युगांत' में दृष्टिगोचर होता है।

---

1. युगांत, पृष्ठ 29।
2. वही, पृष्ठ 10।
3. वही, पृष्ठ 48।

प्रगतिवादी स्वभावतः आशावादी होता है। पंत के 'युगांत' में भी सर्वत्र आशावाद दिखलाई देता है। वे मनुष्य को आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करते हैं और भय से मुक्त होने का सन्देश देते हैं—

> **"बढ़ो अभय-विश्वास चरण धर**
> **सोचो वृथा न भव भय कातर**
>
> × × ×
>
> **सुख दुख की लहरों के शिर पर**
> **पग धर पार करो भव सागर**
> **बढ़ो-बढ़ो विश्वास चरण धर।"[1]**

कवि पंत का विश्वास है कि मानव-विकास में जो बाधक शक्तियाँ हैं उनका विनाश अवश्य होगा। यहाँ उनका आशावादी दृष्टिकोण दिखाई देता है—

> **"मानव जग में गिरि कारा सी**
> **गत युग की संस्कृतियाँ दुर्धर**
> **बंदी की है मानवता को**
> **रच देश जाति की भित्ति अमर।**
> **ये डूबेंगी सब डूबेंगी**
> **पा नव मानवता का विकास।"[2]**

और दूसरा उदाहरण लें—

> **"जो सोए स्वप्नों के तम में**
> **वे जागेंगे यह सत्य बात,**
> **जो देख चुके जीवन निशीथ**
> **वे देखेंगे जीवन प्रभात।"[3]**

यही विचारधारा 'युगांत' की प्राणधारा है।

---

1. युगांत, पृष्ठ 22।
2. वही, पृष्ठ 19।
3. वही, पृष्ठ 17।

'युगांत' में कवि मानव को निर्भीक, साहसी, शक्तिशाली बनने का उपदेश देता है। वह जीवन को आनन्द से परिपूर्ण मानकर कहता है कि जीवन से प्रेम करो, उसका भोग करो, उससे विरक्त न हो। जीवन का त्याग नहीं, भोग किया जाना चाहिये। इस दृष्टिकोण का विकास उसकी रचना में मिलता है—

"जीवन का फल, जीवन का फल।
इसका रस लो—हो जन्म सफल।
तीखे चमकीले दाँत चुभा
चाबो इसको, क्यों रहे लुभा ?
निर्भीक बनो साहसी शक्त
जीवन प्रेमी मत हो विरक्त।"[1]

साम्यवादी व्यक्ति से अधिक समाज को महत्वपूर्ण मानते हैं और प्रगतिवाद साम्यवाद का साहित्यिक संस्करण है अतः प्रगतिवादी भी समाज को महत्वपूर्ण मानते हैं। पंत ने भी समाज के लिये स्वयं को दे देने की भावना को व्यक्त किया है—

"होगा पल्लवित रुधिर मेरा
बन जग के जीवन का बसंत
मेरा मन होगा जग का मन
औ मैं हूँगा जग का अंग।"[2]

"मेरे जीवन से हो जीवित, यह जग का शव हो।"[3]

पंत प्रकृति और मानव में तुलना करते हैं कि प्रकृति में तो बसंत है पर मानव क्यों मुरझाया हुआ है। और कवि स्वयं ही समाधान देता हुआ कहता है कि यह इसलिये है कि उसकी अखंडता खंडित हो गई है, उसने अपने को विभाजित कर लिया है अतः उसके जीवन की सार्थकता खो गई है—

"है पूर्ण प्राकृतिक सत्य, किंतु मानव जग।
क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्ज कुसुम आतप खग ?

× × ×

1. युगांत, पृ० 24।
2. वही, पृ० 32।
3. वही, पृ० 35।

जो एक असीम अखंड मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन सार्थकता।"[1]

कवि का विश्वास है कि यदि मनुष्य यत्न करे तो इसी पृथ्वी पर स्वर्ग आ सकता है—

"क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव।"[2]

युगांत एक युग—छायावादी युग—का अंत था फिर भी उसमें कहीं-कहीं पुराना संस्कार उभर आया है, जो प्रगतिवादी दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं है। इसे स्पष्ट करने के लिये हम उदाहरण दे सकते हैं—

"मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज कण।"[3]

अन्य स्थानों पर भी पंत ने आत्मा की चर्चा की है—

"हँस देगा स्वर्णिम बज्र लोह
छू मानव आत्मा का प्रकाश।"[4]

यह मार्क्स के चिंतन के अनुरूप नहीं है क्योंकि मार्क्स आत्मा में विश्वास नहीं करते। हीगेल का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उन्होंने उसके आत्मवाद को ग्रहण नहीं किया था। उसके द्वन्द्वात्मक आत्मवाद के स्थान पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्थापना की थी। "हीगेल के मत में भौतिक वस्तुएँ आदि आत्मा के विकार अर्थात् उससे उत्पन्न हैं पर मार्क्स के मत से जिसे हम आत्मा मस्तिष्क कहते हैं वह भौतिक शरीर से उत्पन्न वस्तु है ठीक वैसे ही जैसे घड़ी के पुर्जों को एक नियमित क्रम से संयुक्त कर देने पर उसमें गति उत्पन्न हो जाती है।"[5]

'युगांत' में पंत ने ईश्वर का स्मरण किया है। मार्क्स केवल अनात्म-

---

1. युगांत, पृ० 18।
2. वही, पृ० 49।
3. वही, पृ० 11।
4. वही, पृ० 19।
5. आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद—महादेवप्रसाद शर्मा, पृ० 204।

वादी ही नहीं, अनीश्वरवादी भी थे। स्वभावतः उन्होंने साम्यवादी दर्शन में ईश्वर को कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। संसार की गतिविधि का निर्धारण भौतिक कारणों या प्रभावों द्वारा ही होता है। मार्क्स ने इतिहास की भौतिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इसे ही उत्पादन प्रणाणी द्वारा इतिहास की व्याख्या कहा जाता है। स्पष्ट है कि मनुष्य के विकासक्रम में इन भौतिक तत्वों का ही महत्व है ईश्वर का नहीं। प्रगतिवाद में भी ईश्वर को महत्व मिलने का या उसकी सत्ता स्वीकृत होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। फिर यदि पंत जी ईश्वर की चर्चा करते हैं या उसकी सहायता से मनुष्य का परित्राण करना चाहते हैं, तो इसे उनके पुराने संस्कारों का ही प्रभाव कहा जाना चाहिये—

"पाकर प्रभु तुमसे अमर दान
करने मानव का परित्राण
ला सकूँ विश्व में एक बार
फिर से नव जीवन का विहान।"[1]

यहाँ संसार में नये जीवन की सुबह लाने का कार्य इतिहास की भौतिक शक्तियाँ नहीं करतीं, बल्कि मूलतः ईश्वर की कृपा कर रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह चिंतन मार्क्सवादी प्रगतिवादी चिंतन के विरुद्ध है।

साम्यवाद दया, करुणा, दान आदि को पूँजीवादी विकृतियाँ मानता है। उपर्युक्त पंक्तियों में ईश्वर से दान देने की प्रार्थना निहित है। इसी कविता की अन्य पंक्तियों में भी ईश्वर से याचना की गई है कि वह कवि को समान मानव-हित में नियोजित कर ले—

"जग जीवन में जो चिर महान्
सौन्दर्यपूर्ण औ' सत्य प्राण,
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ।
जिसमें मानव-हित हो समान।"[1]

प्रगतिवाद में जो कुछ है वह बाहर है। अन्दर कुछ नहीं। क्योंकि साम्यवादी विश्व का आधार भौतिक पदार्थ को मानते हैं। पंत जी कहीं-कहीं भीतर की बात भी कहते हैं जिसे प्रगतिवाद के अनुकूल नहीं कहा जा सकता—

---

1. युगांत, पृ० 27।

"मैं सृष्टि एक रच रहा नवल, भावी मानव के हित भीतर
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे, मिल सका नहीं जग के बाहर।"[1]

इसी तरह एक अन्य रचना में वे सुख को हृदय के अन्दर बताते हैं—

"चित्रिणी ! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौन्दर्य सृजन ?
वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर
क्या कहती यही, सुमन चेतन ?"[2]

पंत जी की 'मंजरित आम्रवन छाया में' कविता में भी हमें छायावादी संस्कार दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं-कहीं प्रेम के प्रति भौतिक स्वस्थ दृष्टिकोण होते हुए भी भोगवादी रसिक संस्कार प्रमुख हो बैठे हैं। स्वस्थ उन्मुख प्रेम प्रगतिवाद की विशेषता है लेकिन भोगवादिता और रसिकता को पूँजीवादी विकृति ही कहा जा सकता है। 'युगांत' में प्रेम संबंधी यह कविता युगांत की मूल चिन्तन-धारा के अपवादस्वरूप ही है—

"तुम मुग्धा थीं अति भाव प्रवण
उकसे थे अंबियों से उरोज
चंचल प्रगल्भ हँसमुख उदार
मैं सहज तुम्हें था रहा खोज
× × ×
तुमने अधरों पर धरे अधर
मैंने कोमल वपु भरा गोद।"[3]

प्रगतिवाद की यह मान्यता है कि मानव पूँजीवादी व्यवस्था के कारण दुखी है पर पंत जी ने मानव जड़वाद के कारण दुखी बताया है। वे दुख की जड़ जड़वाद को मानते हैं—

"जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान्।"[4]

1. युगांत, पृ० 33।
2. वही पृ० 51।
3. वही, पृ० 38।
4. वही, पृ० 57।

पुरातन को वे इसलिये समाप्त नहीं करना चाहते कि उसमें शोषण, अत्याचार तथा असमानता है, प्रत्युत इसलिये कि उसमें ऐसे बंधनों को अनुभव करते हैं, जिन्हें वे जड़वाद से उत्पन्न समझते हैं।

पंत जी की दृष्टि में राज्य, प्रजा, जन तथा साम्यवाद इत्यादि तंत्र शासन-संचालन के मनुष्य-निर्मित एवं सापेक्षिक सिद्धांत हैं। इनसे परे शाश्वत मानवता को प्रतिष्ठा ही वास्तविक सुख-श्री ला सकती है—

"ये राज्य, प्रजा-जन, साम्यतंत्र,
शासन चालन के कृतक यान,
मानस, मानुषी, विकास-शास्त्र,
हैं तुलनात्मक सापेक्ष ज्ञान,
× × ×
मथ स्थूल-सूक्ष्म जग, बोले तुम
मानव मानवता का विधान।"[1]

उक्त कविता 'बापू' पर लिखित 1936 की रचना है। प्रगतिवादी कविताएँ लिखते हुए भी पंत जी ईश्वरवादी, आत्मवादी गाँधी जी के प्रति भी आकर्षित रहे। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वे अपने पुराने संस्कारों को पूरे तरह से त्याग नहीं सके। उनके इन संस्कारों को दृष्टि में रखकर ही सम्भवतः डा० यशदेव 'युगांत' को तत्कालीन पूँजीवादी नव चेतना का प्रतिपादक और 'युगांत' के कवि को पूँजीवादी प्रवंचना से अभिभूत बताते हैं।[2]

किन्तु डा० यशदेव का कथन 'युगांत' की सभी कविताओं पर लागू नहीं होता। पुराने संस्कारों से ग्रस्त कविताओं या काव्य पंक्तियों के आधार पर समूचे संकलन के बारे में कोई निर्णय दे बैठना उचित नहीं है। 'युगांत' की अधिकांश कविताएँ पूँजीवादी प्रवंचना से ग्रस्त न होकर प्रगतिवादी नवीन चेतना से प्रेरित हैं। पंत की 'युगांत' के पूर्व की कविताओं की तुलना में यदि हम 'युगांत' की कविताओं को रखकर देखें, तो दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। कल्पना-प्रवण, शाश्वतावादी, संघर्ष से डरा हुआ, पुरातनता का प्रेमी तथा मनुष्य और उसकी समस्याओं में कोई रुचि न लेने वाला पंत का कवि व्यक्तित्व 'युगांत'

---

1. युगांत, पृ० 60।
2. पंत का काव्य और युग, पृ० 160।

में आकर अधिकांशतः बदल गया है। यह बदलाव सर्वथा आकस्मिक नहीं है। इसके पीछे पंत के जीवन में उत्पन्न हुआ बदलाव है। प्रथम अध्याय में हम विस्तारपूर्वक यह स्पष्ट कर आये हैं कि पंत के जीवन का यह वह काल है, जिसमें उनके व्यक्तिगत जीवन के आर्थिक कष्ट, मार्क्सवादी ग्रन्थों का उनका अध्ययन, भारतीय साम्यवादी नेता पी० सी० जोशी, भाई देवीदत्त पंत और कालाकांकर की यात्राओं का प्रभाव उन पर पड़ चुका था। यदि वह बदलाव सर्वथा आकस्मिक होता तो इसे पूँजीवादी नव चेतनावाद कहा जा सकता था, किन्तु पंत के इस काल-खण्ड के जीवन के परिप्रेक्ष्य में इसे देखने पर यह उनके नये जीवन का सहज प्रतिफल ही प्रतीत होता है।

"किसी भी काव्य-धारा की भाषा और उसके शिल्प पर उसके कथ्य और उसके मूल दृष्टिकोण का निर्धारक प्रभाव स्वाभाविक है।"[1] छायावाद का अंत होकर एक नयी विचारधारा के रूप में प्रगतिवाद आया। प्रगतिवाद का कथ्य एवं मूल दृष्टिकोण छायावाद के कथ्य एवं मूल दृष्टिकोण से अलग था। परिणाम-स्वरूप इस परिवर्तन का प्रभाव कविता के शिल्प और भाषा पर भी पड़ा।

'युगांत' में पंत जी की कला एक नया मोड़ लेती है। कथ्य के साथ कला की दृष्टि से भी इसमें परिवर्तन दृष्टिगत होता है। "युगांत में कवि की कला और शैली में भी एक साथ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। गुंजन में जो कला तितली के पंख लेकर उड़ी थी वह युगांत में आकर मांसल हो गई है। उसके लघु-लघु गीत अब पृथु और बलिष्ट हो गये हैं। जैसे कवि ने स्वयं लिखा है—युगांत में पल्लव की कोमलकांत कला का अभाव मिलेगा। भाषा में ज्योत्स्ना के गीतों की रुनझुन नहीं है। उसमें है एक सबल ओज। कवि को यहाँ अनावश्यक काट-छाँट (Chiselling) करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, इसलिये युगांत की भाषा में वांछित महाप्राणता है। उसकी व्यंजना शक्ति अत्यन्त विकसित और सशक्त है। गुञ्जन और ज्योत्स्ना के गीतों के उपरान्त पंत जी को सुकुमार भार से यौवन की नहीं, प्रौढ़ता की 'मांसल स्वस्थ गंध' आ गई है।"[2]

यद्यपि यह सही है कि 'युगांत' में कोमलकांत कला का अभाव है, किंतु इसमें उनका पुराना संस्कार एकदम छूटा नहीं है। अतः हम 'युगांत' में पहचान

1. हिन्दी की प्रगतिशील कविता—रणजीत, पृ० 298।
2. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 129।

सकते हैं कि ये वे ही छायावादी पंत हैं। हम कह सकते हैं कि उनके मूल विचार बदले हैं, लेकिन कलेवर वही है। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि 'युगांत' में कवि की आत्मा तो छायावादी युग की है, किन्तु काव्य का कलेवर बदल गया है।

पंत जी की प्रगतिवादी कविताओं पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनकी छायावादी कविताओं में कला पक्ष जितना समृद्ध है, उतना प्रगतिवादी कविताओं में नहीं। किन्तु वस्तुतः यह आरोप सही नहीं है।

'युगांत' में केवल कथ्य ही नहीं बदला है, उसके अनुरूप शिल्प भी बदला है। 'युगांत' के कथ्य को छायावादी शिल्प में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता था। जब यह कहा जाता है कि 'युगांत' का कला पक्ष पंत के छायावादी कला पक्ष से दुर्बल है, तो ऐसा कथन प्रायः पंत की श्रेष्ठ छायावादी रचनाओं से 'युगांत' की सामान्य कविताओं की तुलना करके सिद्ध किया जाता है। यदि हम पंत की आरम्भिक छायावादी कविताओं के शिल्प से 'युगांत' के शिल्प की तुलना करें या उनकी परवर्ती सामान्य छायावादी कविताओं के शिल्प से ही तुलना करें तब हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। उदाहरण के लिये पल्लव की 'छाया' कविता की पंक्तियाँ लें—

"तरुवर की छायानुवाद-सी
उपमा-सी भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी।
कटी छँटी नव-कविता-सी।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में छाया के लिये कई उपमाओं का प्रयोग किया गया है, पर ये उपमाएँ सटीक नहीं हैं। इनसे छाया का कोई चित्र हमारे सामने उपस्थित नहीं होता। वह कौन-सा समान धर्म है, जिसमें उन्होंने छाया के लिये इतने उपमान जुटाए हैं? ध्वनिवादियों की दृष्टि में ये पंक्तियाँ अधम काव्य की कोटि में ही रखी जा सकती हैं।[2]

'युगांत' के कला पक्ष पर एक आरोप और लगाया जाता है कि इसमें भरती

1. पल्लव, पृ० 56।
2. आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि—कृष्णलाल शर्मा, पृ० 431।

के बहुत शब्द हैं, जैसे चिर, अरे आदि। यह सही है कि 'युगांत' में अनेक जगह चिर शब्द आया है, जैसे—

1. "चिर शून्य शिशिर पीड़ित जग में।"[1]
2. 'यह चिर यौवन-श्री से मांसल।"[2]
3. "जग जीवन में जो चिर महान्।"[3]
4. "मैं खोल सकूं चिर मुँदे नाथ।"[3]

इसी प्रकार कुछ अन्य स्थलों पर चिर शब्द आया है। किन्तु 'युगांत' में ही नहीं 'पल्लव' की कविताओं में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। फिर केवल 'युगांत' पर ही यह आरोप क्यों? 'पल्लव' से उदाहरण लें—

1. "विकसित चिर यौवन के भार।"[4]
2. "किन जन्मों की चिर संचित सुधि।"[5]
3. "रहता चिर अविकल अज्ञान।"[6]
4. "चिर अतीत स्मृति सी अनजान।"[7]

इसी प्रकार पृष्ठ 60, 69, 99, 105, 111 आदि पर भी चिर शब्दों के प्रयोग हैं।

भरती के शब्द पंत ने अपने काव्य में रखे यह कोई नई बात नहीं। 'युगांत' से पूर्ववर्ती काव्य-संकलनों में भी इसका प्रयोग किया गया है। "पंत जी ने गुञ्जन के कुछ पदों में जीवन शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में कर दिया है।"[8] परवर्ती काव्य 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में भी पंत जी का किसी

1. युगांत, पृ० 17।
2. वही, पृ० 21।
3. वही, पृ० 27।
4. पल्लव, पृ० 31।
5. वही, पृ० 43।
6. वही, पृ० 44।
7. वही, पृ० 52।
8. हिन्दी साहित्य : 20वीं शताब्दी—नंददुलारे वाजपेयी, पृ० 154।

विशेष शब्द के प्रति आग्रह बना हुआ है। रामविलास शर्मा ने इन पुस्तकों (स्वर्ण-धूलि और स्वर्ण-किरण) पर लिखने के पूर्व सबसे पहले इसी बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है—"दरअसल यह शब्द (चिर) औसतन हर पन्ने में दो बार आता है इसलिये 166 और 177 पन्नों के जोड़ को दुगुना करने में आपको कुछ सही अंदाज हो सकेगा।"[1] रामविलास शर्मा ने यह भी स्पष्ट किया है कि यह शब्द पंत जी का छायावादी युग से ही अत्यन्त परिचित है।[2]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि पंत में जो शिल्प-गत दुर्बलताएँ हैं वे 'युगांत' की रचना के पहले भी थीं और 'युगांत' में भी हैं और 'ग्राम्या' की रचना के बाद भी उनमें बनी रहीं। अतः उनके आधार पर यह कहना कि 'युगांत' में पंत जी का काव्यशिल्प शिथिल हो गया है, न्यायसंगत नहीं है।

'युगांत' की निम्नलिखित कविता के शिल्प की तुलना 'पल्लव' की श्रेष्ठ कविता 'परिवर्तन' के शिल्प से की जा सकती है—

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र,
हे त्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क जीर्ण।
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग-जड़ पुराचीन !!
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जड़ नीड़ शब्द औ श्वासहीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन।"[3]

कल्पना का जितना प्रयोग छायावादी कविताओं में है, 'युगांत' में उतना नहीं। पल्लव-कालीन कविता 'शिशु', 'छाया', 'बादल' कल्पना से भरपूर हैं। इस प्रकार की कल्पना की प्रचुरता 'युगांत' में नहीं मिलती।

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन—संपादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० 273।
2. वही—'यह शब्द छायावाद का चिर परिचित, पंत जी का चिर प्रिय शब्द चिर है।'
3. युगांत, पृ० 9।

युगांत में आकर शिल्प सरल और स्वाभाविक हो गया है। छायावादी काव्य में वह अधिक कृत्रिम है—जैसे श्रमजीवी के चित्रण में उनकी कितनी सरल अभिव्यक्ति है—

"ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन ! भारी पग।"[1]

युगांत की 'मानव' कविता में पूरा चित्र हमारे सामने आ जाता है—

"धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार,
आँखें हैं दो लावण्य लोक,
स्वर में निसर्ग संगीत सार।
पृथु उर, उरोज ज्यों सर सरोज,
दृढ़ बाहु प्रलंब प्रेम बंधन,
पीनो रुर स्कंध जीवन तरु के
कर, पद, अँगुलि, नख-शिख शोभन।"[2]

युगांत में कविता का ह्रास नहीं हुआ इसकी पुष्टि शांतिप्रिय द्विवेदी करते हैं—"युगांत में पंत की कविता का ह्रास नहीं हुआ है। ब्रज भाषा के बाद जैसे द्विवेदी युग ने हिन्दी कविता का नवीन प्रयोग किया वैसे ही छायावाद के बाद युगांत में पंत ने।"[3]

प्रगतिवादी कविता की भाषा के स्वरूप-निर्माण में उसके जनवादी दृष्टि-कोण का व्यापक प्रभाव पड़ा है। प्रगतिवादी कविता का आदर्श ऐसी भाषा है जो एक ओर तो कवि के भावों और अनुभूतियों को अच्छे ढंग से व्यक्त कर सके और दूसरी ओर पाठक भी उसे सरलता से समझ सकें—"प्रगतिशील कवि की भाषा रूपी सरिता के दो तथ्य हैं: एक उसका अपनेआप, दूसरा उसका पाठक। जो भाषा उसके अपने विचारों की अधिक से अधिक

1. युगांत, पृष्ठ 25।
2. वही, पृ० 48।
3. सुमित्रानन्दन पंत, काव्य-कला और जीवन-दर्शन—संपादिका शची-रानी गुर्टू, पृ० 240।

ईमानदारानी प्रतिबिंब हो सकती है और जिस भाषा के दर्पण में उसके पाठकों को अपना मुँह स्पष्ट दिखाई देता है, ऐसी भाषा ही किसी प्रगतिशील लेखक संघ की प्रिय वाणी हो सकती है।"[1]

किन्तु जहाँ भाषा का सरल प्रयोग सम्भव न हो वहाँ कवि का कर्त्तव्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रमुख प्रगतिवादी समीक्षक रामविलास शर्मा ने दिया है। यह कहने के बाद कि "प्रगतिशील कवि के लिये भाषा का सरल और सुबोध बनाना आवश्यक है।" वे कहते हैं कि "ऐसा सम्भव न हो तब कवि का यह कर्त्तव्य है कि कठिनता और सरलता का विचार न कर अपनी अनुभूतियों को उचित शब्द-संकेतों द्वारा हमारे सामने रखे।"[2]

छायावादी कविताओं में जो शब्द-सजीवता थी वह युगांत में भी मिलती है—

"वे डूब गए सब डूब गए
दुर्दम, उदग्र शिर अद्रि शिखर
स्वप्नस्थ हुए स्वर्णातम में
लो स्वर्ण, स्वर्ण अब सब भूधर।"[3]

दुर्दम, उदग्र शिर, आद्रि शिखर से आँखों के सामने दुर्लंघ्य और उत्तुंग पर्वत शिखरों का विराट् चित्र खिंच जाता है।

युगांत की 'बापू' कविता में कई छोटे-छोटे विशेषण विस्तृत भाव-परम्परा को वहन करने में समर्थ हुए हैं—

"तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल
तुम पूर्ण इकाई जीवन की
जिसमें असार भव शून्य लीन।"[4]

शब्दों की सजीवता के लिये एक और उदाहरण लें—

"लो चित्र शलभ सी पंख-खोल
उड़ने को अब कुसुमित घाटी,

---

1. हंस, अक्तूबर, 1947।
2. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ० 77।
3. युगांत, पृ० 19।
4. वही, पृ० 54।

यह है अल्मोड़े का वसन्त,
खिल पड़ी निखिल पर्वत घाटी।"[1]

थोड़े शब्दों में अधिक बात कह देना पंत की विशेषता है—

"ये राज्य, प्रजा-जन, सैन्यतंत्र,
शासन-चालन के मृतक यान।
मानस, मानुषी, विकास-शास्त्र
है तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान।
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन-उपकरण-चयन-प्रधान।
मथ सूक्ष्म स्थूल जगे, बोले तुम-
मानव मानवता का विधान।"[2]

पंत जी नये शब्द भी गढ़ते हैं। युगांत में लम्बे पैने नखों का वाचक एक नया शब्द 'नखर' आया है—

"प्रखर नखर नव जीवन
की लालसा गड़ाकर
छिन्न भिन्न कर दो गत
युग के शव को दुर्धर।"[3]

नये विशेषणों का एक नया रूप युगांत में है। इन विशेषणों से अन्तः-ऐन्द्रिक संवेदनाएँ सफलतापूर्वक व्यक्त हुई हैं—

"पत्रों में माँसल रंग खिला।"[4]

तितली को 'तिली' संबोधन देकर उसके लघु और कोमल रूप को कवि ने और भी लघु तथा कोमल कर दिया है—

"प्रिय तिली! फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल?"[5]

---

1. युगांत, पृ० 16।
2. वही, पृ० 60।
3. वही, पृ० 23।
4. वही, पृ० 14।
5. वही, पृ० 50।

पंत ने जिस भाषा का प्रयोग अपने सम्पूर्ण साहित्य में किया उसका मूल स्रोत संस्कृत है। अतः पंत ने न केवल संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग किया प्रत्युत संस्कृत की पदावली का भी ज्यों का त्यों प्रयोग किया है, जैसे—

1. **"गा-गा—एकोहं बहुस्याम।"**[1]

2. **"मिथ्या जड़ बंधन, सत्यराम**
नानृतं जयति सत्यं या भैः।"[2]

युगांत में प्रचलित शब्दों को रूढ़ अर्थ में न स्वीकारते हुए उनके वास्तविक मूल अर्थ में लाने की चेष्टा कवि ने की है। 'मनोज' और 'अछूत' इसी प्रकार के प्रयोग हैं—मनोज का अर्थ 'मन से उत्पन्न' किया गया है और इसका प्रयोग गांधी के लिये विशेषण के रूप में हुआ है। ठीक इसी प्रकार का प्रयोग अछूत भी है—

1. **"तुम आत्मा के, मन के मनोज।"**[3]
2. **"छू अमृत स्पर्श से हे अछूत।"**[4]

छाया पर लिखी दो कविताएँ अनुपम हैं। छाया की गहनता का अत्यन्त व्यंजनापूर्ण चित्रण है—

"पट पर पट केवल तम अपार
पर
सखि हटा अपरिचय अंधकार
खोलो रहस्य के मर्म द्वार।"[4]

छाया की रहस्यमयता सजीव हो उठी है।

"बाँधो, छवि के बंधन बाँधो।
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गंध कुसुम में, स्मित अधरों में,

---

1. युगांत, पृ॰ 59।
2. वही, पृ॰ 61।
3. वही, पृ॰ 55।
4. वही,

जोवन की तमिस्रु-वेणी में,
निज प्रकाश कण बाँधो।"[1]

यहाँ शब्दों की झंकार में एक विशेष सौन्दर्य है। अंधकार को तमिस्र-वेणी कहकर उसमें प्रकाश कण बाँधने की कल्पना को भी स्थान मिला है। तितली-सा ही चापल्य है। उनके विशेषण-प्रयोग अत्यन्त सांकेतिक हैं। जैसे तितली को सुमन विहग, कुसुम विहग आदि कहा गया है। इससे सुन्दर तितली का और क्या वर्णन हो सकता है?

प्रगतिवादी कविता में वैसे तो वस्तु-चित्रण शैली, विचार-कथन शैली, भावाभिव्यंजन शैली, उद्बोधन शैली, व्यंग्यात्मक शैली आदि सभी शैलियों का थोड़ा-बहुत प्रयोग है, पर उसकी अधिक रुचि उद्बोधनात्मक या व्यंग्यात्मक शैलिओं में ही रही है। पंत जी के युगांत में हमें उद्बोधनात्मक शैली के दर्शन होते हैं।

युगांत में बिंब-योजना भी सुन्दर बन पड़ी है। उसमें पौराणिक बिंब, सांद्र बिंब, मिश्रित संवेदनाओं के बिंब, गंध बिंब आदि मिलते हैं।

पौराणिक बिंब—

"साम्राज्यवाद था कंस, बंदिनी
मानवता पशु बलाक्रांत
शृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासनपद शक्ति-भ्रांत
कारागृह में दे दिव्य जन्म
मानव आत्मा को मुक्त, कांत,
जन शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत, पद प्रणत शांत।"[2]

गंध बिंब—

"वह विजन चाँदनी की घाटी
छाया मृदु वन तरु गंध जहाँ,

1. युगांत
2. वही, पृ० 61।

> नींबू आडू के मुकुलों के
> मद से मलयानिल लदा जहाँ।"[1]

ध्वनि बिंब—

> "बाँसों का झुरमुट
> संध्या का झुरमुट
> लो चहक रही चिड़िया
> टी वी टी टुट टुट।"[2]

ध्वनि बिंब के उक्त उदाहरण में कवि ने संध्या के सौन्दर्य का वर्णन न करते हुए भी इन चार पंक्तियों में वातावरण का जो सफल चित्र प्रस्तुत किया है, वह शायद ही कहीं अन्य स्थल पर मिले। इस पद्यांश में सांद्र बिंब भी है। यहाँ एक संक्षिप्ति के साथ पूरे वातावरण को चार पंक्तियों में रूपायित कर दिया गया है।

अब देखिये मिश्रित संवेदनाओं के बिंब। इस बिंब में एकाधिक संवेदनाओं को मिला दिया है—

> "पल्लव पल्लव में नवल रुधिर
> पत्रों में मांसल रंग खिला
> आया नीली पीली लौ से
> पुष्पों के चित्रित दीप जला।"[3]

यहाँ मांसलता स्पर्श से संबंधित गुण है और रंग दृष्टि से संबंधित। यहाँ दोनों संवेदनाओं को मिला दिया गया है।

युगांत में प्रतीक-योजना भी है। निम्न पंक्तियों में प्राकृतिक प्रतीक है—

> "जागे नव युग के खग
> बरसा जीवन कूजन।"[4]

यहाँ नव युग के खग नई पीढ़ी के प्रतीक हैं।

---

1. युगांत, पृ० 39।
2. वही, पृ० 25।
3. वही, पृ० 14।
4. वही, पृ० 24।

युगांत की कविताएँ छंदबद्ध हैं। मुक्त छंद नहीं हैं। पंक्तियाँ भी साधारणतः सम-मात्रिक हैं। अधिकांश कविताओं के चरण 16-16 मात्रा के हैं। छंदों में पंत जी ने नया प्रयोग नहीं किया है।

युगांत में पुराने ढंग के अलंकार भी आए हैं, पर ऐसा लगता है कि पुराने ढंग के अलंकारों से विराम ले लिया गया है। कुछ अलंकारों को देखिये—

रूपक—

"झरे जाति-कुल-वर्ण-पर्ण धन"[1]
"सुख दुख की लहरों के शिर पर
पग धर पार करो भव सागर।"[2]

सन्देह—

"वह जागी है अथवा सोई?
मूछित या स्वप्न मूढ़ कोई?
नारी कि अप्सरा या माया?
अथवा केवल तरु की छाया?"[3]

उपमा—

"मैं पतझड़ का सा जीर्ण पात।"[4]
"चाँदी-सा फैला है प्रकाश
चंचल अंचल सा मलयानिल।"[5]

अनुप्रास—छेकानुप्रास—

"हे त्रस्त ध्वस्त है शुष्क जीर्ण।"[6]
"पावक पग धर आवे नूतन।"[7]

---

1. युगांत, पृ० 10।
2. वही, पृ० 22।
3. वही, पृ० 40।
4. वही, पृ० 12।
5. वही, पृ० 50।
6. वही, पृ० 9।
7. वही, पृ० 10।

वृत्यानुप्रास—

"कलि-कलि किसलय में जल उठती।"[1]
"जग जावे जग में फिर से।"[2]

पुनुरुक्तिप्रकाश—

"झर-झर अनंत में हो विलीन।"[3]
"ढीली है जिनकी रग-रग।"[4]

मानवीकरण—

"कहो तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप
सुनहला फैला केश कलाप
मधुर, मंथर मृदु मौन।"[5]

यहाँ छाया का मानवीकरण किया गया है और उसे स्त्री माना है। वैसे यह कविता सन् 1930 को है।

विरोधाभास—

'हे चिर पुराण हे चिर नवीन।"[6]

यहाँ बापू को पुराण और नवीन दोनों कहा है।

"युगांत का कलात्मक मूल्यांकन करते हुए यह कहना आवश्यक है कि इस काव्य में कवि की आसक्ति नाद, अप्रस्तुत विधान तथा लक्षणा के स्थान पर अभिधा के प्रयोग की ओर अधिक है। अभिधा के प्रयोग से भावों और विचारों

---

1. युगांत, पृ० 13।
2. वही, पृ० 23।
3. वही, पृ० 9।
4. वही, पृ० 2।
5. वही, पृ० 52।
6. वहा, पृ० 54।

की दुरूहता के अभाव में कवि जनता के निकट है। युगांत में हमारा कवि जनवादी प्रवृत्तियों को पहचान कर साम्यवाद के हल्के विश्वास के साथ उसकी निरावृत अभिव्यक्ति करने लगा है। समग्र रूप से कहना होगा कि छायावादी भावनाजन्य कला और साम्यवादी प्रगतिजन्य स्पष्टता दोनों ही युगांत में मिलती हैं।"[1]

● ●

1. पंत की काव्य-साधना—विनयकुमार शर्मा, पृ० 34।

अध्याय 4

युगवाणी

"मई, 1939 में युगवाणी का प्रथम बार प्रकाशन हुआ।"[1] इसमें छोटी-बड़ी कुल 82 कविताएँ हैं। 'बापू' कविता को संख्या-क्रम में नहीं जोड़ा गया है। युगवाणी में युगांत की भाँति कविता के नीचे रचना-काल नहीं दिया गया है। यह कहा जा सकता है कि युगवाणी का रचना-काल सन् 1937 से 1939 तक है, क्योंकि पंत ने स्वयं कहा है कि "युगवाणी और ग्राम्या की रचना मेरे कालाकांकर के दूसरे निवास-काल में हुई।"[2]

युगवाणी पंत का द्वितीय प्रगतिवादी कविता-संकलन है। संकलन के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें कवि ने युग की वाणी को अभिव्यक्त किया है। "युगवाणी के रचना-काल में भारत गाँधीवाद और मार्क्सवाद दो विरोधी विचारधाराओं से अधिक प्रभावित था। कवि पर सीधे ही ये विचार सारणियाँ अपना प्रभाव जमाने लगीं। पंत जी साम्यवाद को जन-जीवन के लिये श्रेयस्कर बताकर उसके गुण गाने लगे।"[3]

युगवाणी के रचना-काल के समय में ही पंत जी ने नरेन्द्र शर्मा के साथ 'रूपाभ' नामक साहित्यिक आलोचनात्मक पत्रिका का सम्पादन किया। इस पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य उस जनता के बीच सामाजिक चेतना जागृत करने का था, जो स्वदेश को स्वतन्त्र बनाने के लिये संघर्ष कर रही थी। पत्रकारिता से सम्बद्ध हो जाने के कारण पंत के विचारों में और अधिक स्पष्टता आई, क्योंकि पत्रकारिता प्रत्यक्षतः जनता के प्रति निवेदित होती है। पंत ने रूपाभ के जुलाई, 1938 के पहले ही अंक में एक स्मरणीय सम्पादकीय

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 406।
2. साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 52।
3. पंत की काव्य-साधना—विनयकुमार शर्मा, पृ० 34।

लिखा। जिस प्रकार पंत के पल्लव नामक संग्रह की प्रस्तावना को छायावाद का घोषणापत्र कहा जाता है, उसी प्रकार रूपाभ में प्रकाशित उपर्युक्त सम्पादकीय लेख प्रगतिवाद का घोषणापत्र सिद्ध हुआ। पंत साम्यवादी चिन्तन के कितने निकट हैं, इसे रूपाभ के उक्त सम्पादकीय लेख में व्यक्त विचारों से समझा जा सकता है। "इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"[1] पंत जी के विचारों की तुलना में लेनिन के विचारों को रखकर देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि पंत जी पर साम्यवादी विचारधारा का कितना भारी प्रभाव युगवाणी के रचना-काल में था। लेनिन का कथन है—"कला पर जनता का स्वामित्व है। उसकी जड़ें विशाल श्रमिक समाज के विस्तृत से विस्तृत स्तरों में गहराई तक पहुँच जाना चाहिये।"[2]

"युगवाणी में कवि की वह कल्पना, जो स्वर्ग से भूमि पर उतर कर आयी थी, और जो मानव और मानवता में केवल आदर्शवादिता की खोज करने में व्यस्त थी, यथार्थ जीवन की भूमि पर आ गई। मानवता के अक्षम्य दोष उसके सामने प्रकट होने लगे। उसे धन का यह क्षणिक और निराधार वर्गीकरण असह्य होने लगा। युगवाणी में कवि की भावना प्रवृत्ति को इसी यथार्थ का आश्रय मिला है, जिसकी पृष्ठभूमि में मार्क्सवादी जीवन के सिद्धान्त हैं।"[3]

युगांत कवि के मनोजगत् अथवा मनःस्थिति के मोड़ का सूचक है और युगवाणी इस मोड़ या परिवर्तन को स्पष्ट वाणी देती है। पंत जी ने युगवाणी को गद्यगीत कहा है। "युगवाणी में मेरी युगांत के बाद की रचनाएँ संग्रहीत हैं, जिनमें मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है।"[4] यहाँ पंत जी ने गद्य का प्रयोग सामान्य अर्थ में नहीं किया है। "पंत जी ने जीवन की वास्तविकता और यथार्थता के प्रतिबिम्ब के अर्थ में ही युगवाणी को गद्य कहा है।"[5]

---

1. रूपाभ, पंत का सम्पादकीय, वर्ष 1, अंक 1, जुलाई, 1938।
2. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—रविन्द्रसहाय वर्मा, पृ० 228 पर उद्धृत।
3. पंत : आधुनिक कवि—फूलचन्द्र पाण्डेय, पृ० 163।
4. युगवाणी, सुमित्रानन्दन पंत, विज्ञापन।
5. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 409।

युगवाणी में पंत जी गाँधी के आदर्श एवं मार्क्स के विचार दोनों को समन्वित करना चाहते हैं। वे गाँधी के आदर्शों से वैयक्तिक अन्तर्जगत् को तथा मार्क्स के सिद्धान्तों से सूक्ष्म बाह्यजगत् को अनुप्राणित करना चाहते हैं। युगवाणी इन्हीं की समन्वय भूमि है।

युगवाणी में युग की मनोवृत्ति तथा युग की चेतना को अभिव्यक्त किया गया है। "लोक-करुणा एवं जीवमात्र के भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण की वाणी ही युगवाणी है।.........विश्व-दुःख, लोक-व्यथा को युगवाणी अभिव्यक्ति देती है।"[1]

सम्पूर्ण युगवाणी में प्रायः दो प्रकार की कविताएँ हैं। पहले वर्ग में वे कविताएँ हैं जो प्रगतिवादी सिद्धान्तों के समकक्ष हैं और दूसरे वर्ग में प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं। युगवाणी में आकर कवि का दृष्टिकोण बदल जाता है, उसकी प्रकृति परिवर्तित हो जाती है। यह सम्पूर्ण बदलाव आकस्मिक नहीं प्रत्युत युगांत का स्वाभाविक विकास ही है। "वस्तुतः युगवाणी उसी दृष्टिकोण की एक सरल और सापेक्षिक व्याख्या है, जो कुछ युगांत में कवि ने देखा है।"[2] "युगवाणी एक प्रकार से भारतीय साम्यवाद की वाणी है.........भारतीय साम्यवाद (?) का युगवाणी में दो रूपों में ग्रहण है। एक ओर उसके मुख्य-मुख्य सभी सिद्धान्तों का विवेचन है दूसरी ओर साम्यवाद के दृष्टिकोण का ग्रहण।"[3]

युगवाणी पंत के प्रगतिवादी काव्य का दूसरा कदम कहा जा सकता है यानी युगांत से वे थोड़ा आगे बढ़े हैं। जहाँ युगांत में प्रगतिवादोचित कृषक जीवन, धनपति वर्ग, पूँजीपति वर्ग, आर्थिक एवं सामाजिक शोषण आदि के चित्रों का अभाव है वहीं ये सब बातें हमें युगवाणी में मिल जाती हैं। प्रगतिवादी दृष्टिकोण व्यापक रूप से युगवाणी में है।

युगांत में कवि का दृष्टिकोण मानवतावादी था। उन्हें बापू की सत्य-अहिंसा नीति में पूर्ण विश्वास था कि इनसे मानवता का विकास होगा—

"इस भस्म काम तन की रज से
जग पूर्णकाम नव जग जीवन,

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 409।
2. पंत : आधुनिक कवि—फूलचन्द्र पाण्डेय, पृ० 164।
3. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 142।

बोनेगा सत्य अहिंसा के
ताने-बानों से मानवपन ।"[1]

युगवाणी में भी बापू पर एक कविता संकलित है किन्तु पंत ने उसे युगवाणी की कुल कविता संख्या में गिना नहीं है । उसे युगवाणी में सम्मिलित करके भी अन्य कविताओं से असम्मिलित रखा गया है । कदाचित् ऐसा इसलिये किया गया है कि उस कविता की भावभूमि युगवाणी की भावभूमि से भिन्न है । इसका अभिप्राय यह भी निकलता है कि युगवाणी में कवि पर गाँधीवाद का प्रभाव कम हो गया है और मार्क्सवाद का प्रभाव बढ़ गया है । यही कारण है कि युगांत की अपेक्षा युगवाणी प्रगतिवाद के अधिक निकट है । ऊपर जो विभिन्न लेखकों के उद्धरण हमने दिये हैं उनमें भी इस बात को मान्यता दी गई है । स्वयं डॉ० नगेन्द्र ने भी यह स्वीकार किया है कि "वह कविता मानो पाठक को युग में प्रविष्ट कराकर अलग खड़ी हो जाती है ।"[2]

"युगवाणी को प्रगतिशील काव्य कहा जाता है । यदि मार्क्सवादी सिद्धांतों की साहित्यिक अभिव्यक्ति ही प्रगतिवाद है तो निश्चय ही 'युगवाणी' में प्रगतिशील काव्य के लक्षण मिलेंगे ।"[3]

कार्ल मार्क्स के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के तीन आधारभूत सिद्धांत हैं, जिनमें से एक हिंसात्मक क्रांति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का पतन भी है । कवि भारतीय साम्यवादियों की तरह अहिंसा में विश्वास रखता हुआ भी यह स्वीकार करता है कि संधि युग में हिंसा अनिवार्य है—

"नहीं जानता युग-विवर्त में होगा कितना जन क्षय
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय ।"[4]

"प्रगतिशील कविता सामाजिक यथार्थ का यथातथ्य वर्णन मात्र नहीं करती, वह सामाजिक यथार्थ को उसकी गत्यात्मक भूमिका में देखती है और चित्रित करती है । इसलिये जहाँ वह वास्तविक गरीबी, भुखमरी, भ्रष्टाचार, वर्ग विषमता, वर्ग-संघर्ष और आज के हमारे अस्तित्व की बेहूदगियों को स्वर देती है वहाँ आने वाली क्रांति से भी प्रतिश्रुत है ।"[5]

---

1. युगांत—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 54 ।
2. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 122 ।
3. आधुनिक कवि पंत, कृष्णकुमार सिन्हा, पृ० 56 ।
4. युगवाणी, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 1 ।
5. हिन्दी की प्रगतिशील कविता—डॉ० रणजीत, पृ० 190 ।

पंत की युगवाणी में संकलित कविता में ध्वंसात्मक एवं सृजनात्मक दोनों रूपों की अभिव्यक्ति हुई है—

> "तुम अंधकार, जीवन को ज्योतित करती,
> तुम विष हो, उर में मधुर सुधा-सी झरती।
> तुम मरण विश्व में अमर चेतना भरती,
> तुम निखिल भयंकर, भीति जगत् की हरती।"[1]

प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक यथार्थ का चित्रण रहा है और उसमें सम-सामयिक यथार्थ के सामान्य रूपों को व्यापक अभिव्यक्ति मिलती है जिसमें विभिन्न सामाजिक आर्थिक वर्गों का चित्रण होता है। किसान का चित्रण जैसा युगवाणी में किया गया है वह यथार्थवादी है। किसान के दैन्य के साथ पूरी सहानुभूति होने के उपरान्त भी प्रगतिवादी कविता किसान की सामन्ती परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न उसके स्थिर स्वभाव को गौरवान्वित नहीं करती। वह जानती है कि किसान की इस दुर्दशा का कारण उसकी ये परिस्थितियाँ ही हैं। ये परिस्थितियाँ उसे परिवर्तनशील विश्व में भी अपरिवर्तित बनाये रखना चाहती हैं—

> "विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित वह निश्चल,
> वही खेत, गृह द्वार वही वृष, हँसिया औ' हल।
> स्थावर स्थितियों का शिशु स्थावर स्थाणु कृषि बल,
> दीर्घ सूत्र, अति दुराग्रही, साशंक औ' वृषल।"[2]

पंत ने साम्राज्यवादी, धनपति, मध्य वर्ग, श्रमजीवी आदि वर्गों पर भी कविताएँ लिखी हैं।

शोषित वर्गों के बाद संख्या की दृष्टि से मध्य वर्ग समाज का सबसे बड़ा वर्ग है। मध्य वर्ग पूँजीवादी समाज व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। पंत जी ने युगवाणी में इसकी स्थिति इस तरह अंकित की है—

> "गत संस्कृति का दास, विविध विश्वास विधायक,
> निखिल ज्ञान-विज्ञान नीतियों का उन्नायक।

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 84।
2. वही, पृ० 35।

उच्च वर्ग की सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक,
प्रभु सेवक, जन वंचक वह, निज वर्ग प्रतारक।"[1]

पंत द्वारा किये गए विभिन्न वर्गों का चित्रण न केवल उनकी प्रगतिवादी दृष्टि का सूचक है वरन् उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि का भी सूचक है। प्रायः सभी चित्रण अत्यन्त सटीक और मनोवैज्ञानिक हैं।

प्रगतिवादी पंत के काव्य-विकास में युगांत जैसे एक भूमिका मात्र है। लेकिन युगवाणी उसके मुख्य भाग के समान है। यही कारण है कि मार्क्स और मार्क्स के सिद्धांत युगवाणी में प्रमुख रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। पंत ने अत्यन्त आस्था-पूर्ण शब्दों में मार्क्स का गुणगान किया है और वर्गहीन समाज, श्रमिकों के शासन तथा समानता की बात कही है—

"श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन यंत्रों पर।
वर्गहीन सामाजिकता देगी सबको सम-साधन।"[2]

मार्क्स की तुलना उन्होंने शंकर के तीसरे नेत्र से की है—

"धन्य मार्क्स! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।"[2]

मार्क्स ने जिस नए सत्य का उद्घाटन किया है, उस सम्बन्ध में कवि कहता है—

"विकसित हो, बदले जब-जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत-सभ्यता समापन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव, अर्थ भित्ति पर नूतन,
साक्षी है इतिहास, आज होने को पुनः युगान्तर।"[2]

और साथ ही साथ पंत ने साम्यवाद का अभिनन्दन किया है—

"साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।"[3]

---

1. युगवाणी, पृ० 32।
2. वही, पृ० 26।
3. वहीं, पृ० 27।

'उद्बोधन', 'मार्क्स के प्रति' और 'भूत-दर्शन' शीर्षक कविताओं में भी मार्क्सवादी सिद्धांतों की व्यंजना है—

"कहता भौतिकवाद, वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण
भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अंतर-दर्पण।"[1]

मार्क्स के दर्शन का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, जिसके अनुसार विश्व का आधार पदार्थ है। इसी बात को उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है।

साम्यवाद समानता का समर्थक है। 'उद्बोधन' कविता में भी भेदभाव मिटाकर मानवता को प्रतिष्ठित करने की बात कही गई है—

"क्षुद्र, घृणित, भव भेद-जनित
जो उसे मिटा, नव संघ भाव भर
देश काल औ' स्थिति के ऊपर
मानवता को करो प्रतिष्ठित।"[2]

ऐसी ही और पंक्तियाँ भी हैं, जिनमें ऐसे समाज तथा संस्कृति की कल्पना की गई है, जिसमें—

"रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित।"[3]

और साम्यवादी विचारधारा के अनुरूप जहाँ शोषण न हो, दैन्य न रहे—

"धन बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन
जहाँ दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित
जीवनयापन हो न मनुज को गर्हित।"[3]

प्रगतिवादी चिंतन में सामान्यजन की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई है। पंत जी भी कहते हैं कि कवि की वाणी जनसामान्य की वाणी होना चाहिये—

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 27।
2. वही, पृ० 24।
3. वही, पृ० 6।

"बने विश्व की स्वर लिपि
जन - जन मर्म कहानी,
कवि की वाणी।"[1]

जीवन के कल्याण के लिये पंत जी भाव सत्य को यथार्थ बनाना आवश्यक समझते हैं। जिस यथार्थ को वे अपनाते हैं वह स्थूल एवं जड़वादी यथार्थ नहीं है—

"निर्मित करो रूप का मनु-
रूप का मन।
भाव सत्य पीड़ित मानव,
मत धरो स्वप्न के चरण।"[2]

× × ×

"स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी हो भौतिक भव,
अंतरजग ही बहिर्जगत्
बन जावे, वीणापाणि, इ!
युग की वाणी।"[3]

साम्यवाद के शत्रु पूँजीपति हैं। पंत जी ने 'धनपति' नामक रचना में उन पर व्यंग्य किया है और पूँजीवादी विकृतियाँ भी बतलाई हैं। पूँजीवादी विलासजीवी हैं और नारी को केवल खिलौना मानते हैं। कवि साम्राज्यवाद के खण्डहर के रूप में अवशिष्ट पूँजीपतियों को नृशंस, निरंकुश, पशु की संज्ञा देता है—

"वे नृशंस हैं : वे जन के श्रम बल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित,
शय्या की क्रीड़ा कन्दुक है जिनको नारी।

× × ×

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 2।
2. वही, पृ० 37।
3. वही, पृ० 2।

"सुरांगना, संपदा, सुराओं से संसेवित,
नर पशु वे भूभार, मनुजता जिनसे लज्जित।"[1]

साम्यवादी मानते हैं कि पूँजीपति वर्ग अब समाप्त होने को है। पंत जी ने भी इस तथ्य को अभिव्यक्त किया है—

"अब न प्रयोजन उनका, अंतिम हैं उनके क्षण।"[1]

प्रगतिवाद साम्यवाद का साहित्यिक रूप है। अतः वह साहित्य को सामाजिक चेतना मानता है वैयक्तिक चेतना नहीं। साम्यवाद के अनुरूप प्रगतिवाद भी व्यक्ति के सुख-दुःख को महत्व न देकर समाज के सुख-दुःख को महत्व देता है। पंत जी भी व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को महत्व देते हैं—

"सर्वमुक्ति हो मुक्ति तत्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब।"[2]

युगवाणी में पंत जी कल्पना-लोक छोड़कर पृथ्वी पर आ जाते हैं और दूसरे कवियों से, जो काल्पनिक लोक की बातें किया करते हैं, पृथ्वी की ओर देखने का—यथार्थ चित्रण करने का आग्रह करते हैं—

"ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु नीलिमा-गहन गमन ?
× × ×
देखो भू को।
जीव प्रसु को।"[3]

इतना ही नहीं, कवि पंत की विचारधारा में एक अन्य परिवर्तन भी है। पहले जहाँ वह सुन्दर को प्रेम करते थे, वहाँ अब कुरूप को भी प्रेम करते हैं। नव समाज और नव मानवता के निर्माण में वे दोनों को एक स्तर पर लाना चाहते हैं—

"हे कुरूप, हे कुत्सित, प्राकृत,
हे सुन्दर, हे संस्कृत, सस्मित,

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 31।
2. वही, पृ० 2।
3. वही, पृ० 7।

आओ जग जीवन परिणय में
परिचित से मिल बाँह भरो।"[1]

कवि अब संघर्षों से भागता नहीं। वह जीवन के संघर्षण में सुख देखने लगा है। 'मुझे डूबने का भय है' की मनोवृत्ति वाले कवि को अब सम्भवों में आकर्षण दिखाई देने लगा है—

"जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम।"[2]

कवि का सत्यगत दृष्टिकोण भी बदल गया है। उसके दृष्टिकोण में अब सत्य कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है वरन् वह सामाजिक उपयोगिता की अपेक्षा में ही सत्य है—

"धर्म, नीति औ' सदाचार का
मूल्यांकन है जनहित
सत्य नहीं है वह, जनता से जो
नहीं प्राण सम्बन्धित।"[3]

युगवाणी में आकर उनका प्रकृति-अनुराग भंग हो गया है—पहले तो उन्हें प्रकृति से इतना मोह था कि कहते थे—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन।"[4]

वहीं पंत जी अब कहते हैं—

"कहाँ मनुज को अवसर,
देखे मधुर प्रकृति-मुख,
भव अभाव से जर्जर
प्रकृति उसे देगी सुख?"[5]

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 90।
2. वही, पृ० 3।
3. वही, पृ० 23।
4. पल्लव, पृ० 89।
5. युगवाणी।

और प्रकृति की प्रधानता कम हो गई है—

"हार गईं तुम
प्रकृति !
रच निरुपम
मानव-कृति ।"[1]

युगवाणी की प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में प्रगतिवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव न भी हो, अप्रत्यक्ष रूप से वे पंत के प्रगतिवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। यह प्रभाव तीन रूपों में दिखाई देता है। एक तो प्रकृति का चित्रण अधिक यथार्थ है, दूसरे प्रकृति के उपेक्षित पदार्थों को भी काव्य का विषय बनाया गया है और तीसरे प्रकृति अब अपनेआप में साध्य नहीं है, वह पृष्ठभूमि में चली गई है, साधन बन गई है। उसकी अपेक्षा मनुष्य अधिक प्रमुख हो गया है और वह साध्य बन गया है। युगवाणी की प्रकृति सम्बन्धी ये तीन विशेषताएँ उन्हें पंत की छायावादी प्रकृति सम्बन्धी कविताओं से अत्यधिक भिन्न सिद्ध करती हैं। ई० चेलिशेव ने पंत की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं की ऐसी ही कुछ विशेषताओं को उनकी 'युगांत' में संकलित कविताओं में भी लक्षित किया है।[2] चींटी, दो लड़के, झंझा के नीम, मानवपन आदि कविताओं में पंत का परिवर्तित दृष्टिकोण स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रकृति के एक अन्य पक्ष की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। उल्लेखनीय है कि युगवाणी के पूर्व वे प्रकृति के इस पक्ष को देख ही नहीं पाये थे—

"वह्नि, बाढ़, उल्का-झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर।
निष्ठुर है जड़ प्रकृति, सहज भंगुर जीवित जन,
मानव को चाहिये यहाँ मनुजोचित साधन।"[3]

किसान और मजदूरों के बाद भारतीय नारी भी शोषित है। इस ओर भी प्रगतिवादियों का ध्यान गया है। पंत जी नारी को मुक्त करने का आह्वान करते हैं—

---

1. युगवाणी।
2. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता, पाँचवाँ अध्याय।
3. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 16।

"मुक्त करो नारी को मानव।
चिर वंदिनि नारी को,

× × ×

पुरुष वासना की सीमा से
पीड़ित नारी जीवन।"[1]

आधुनिक समाज में कैसे नारी 'नर की छाया' बन गई, इसे भी पंत ने व्यक्त किया है—

"वह नर की छाया नारी।
चिर नमित नयन, पद विजड़ित,
वह चकित, भीत हिरनी सी
निज चरण चाप से शंकित।"[2]

प्रगतिवादी सम्पूर्ण विश्व को प्रेम करते हैं। धरती पर निवास करने वाले मनुष्य ही नहीं जीव-जन्तु और सभी पदार्थ उन्हें प्रिय होते हैं। पंत की कविता 'मानवपन' में उन्हें धरती की हर वस्तु से प्यार है, यहाँ तक कि पीले पत्ते और कूड़ा-कर्कट से भी—

"इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता,
इसका रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर पत्थर,
कूड़ा-कर्कट सब कुछ भू पर लगता सार्थक, सुन्दर।"[3]

प्रगतिवादी कविता में विश्व-प्रेम भी उसके मानव-प्रेम का ही एक आयाम है। पंत जी को अपने आँगन में आ जाने वाले बच्चे मानवता के नाते प्रिय लगते हैं—

"सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन
मानव के नाते उर में भरता अपनापन

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 46।
2. वही, पृ० 48।
3. वही, पृ० 17।

मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे,
रोम-रोम मानव साँचे में ढाले सच्चे।"[1]

युगवाणी में मानव प्रमुख है इसलिये कवि कहता है कि कला का आदर्श आत्माभिव्यक्ति नहीं उसकी उपयोगिता है। दर्शन-विज्ञान भी ऐसा हो जिसमें मनुजता का कल्याण हो—

"ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण
यह दर्शन-विज्ञान, मनुजता को हो जिसमें चिर कल्याण।"[2]

मानव प्रमुख है इसलिये चींटी की बात करते-करते कवि विषयान्तर हो जाता है और मानव की बात करने लगता है—

"हा मानव !
देह तुम्हारी ही है, रे शव !
तन की चिन्ता में घुल निशि-दिन
देह मात्र रह गये, दबा तिन।"[3]

प्रगतिवादी परिवर्तन को आवश्यक मानते हैं और मानते हैं कि क्रमशः अच्छा समय आता जाता है, अतः पंत ने कहा—

"झरते हों, झरने दो पत्ते, डरो न किंचित्
नवल मुकुल मंजरियों से भव होगा शोभित।"[4]

यहाँ लगता है कि युगांत की भावधारा ही अविच्छिन्न रूप से चली आई है। युगांत में भी उन्होंने कहा था—

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र
× × ×
कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर पल्लव लाली।"[5]

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 15।
2. वही, पृ० 5।
3. वही, पृ० 10।
4. वही, पृ० 12।
5. युगांत, पृ० 9।

"मुक्त करो नारी को मानव।
चिर वंदिनि नारी को,
× × ×
पुरुष वासना की सीमा से
पीड़ित नारी जीवन।"[1]

आधुनिक समाज में कैसे नारी 'नर की छाया' बन गई, इसे भी पंत ने व्यक्त किया है—

"वह नर की छाया नारी।
चिर नमित नयन, पद विजड़ित,
वह चकित, भीत हिरनी सी
निज चरण चाप से शंकित।"[2]

प्रगतिवादी सम्पूर्ण विश्व को प्रेम करते हैं। धरती पर निवास करने वाले मनुष्य ही नहीं जीव-जन्तु और सभी पदार्थ उन्हें प्रिय होते हैं। पंत की कविता 'मानवपन' में उन्हें धरती की हर वस्तु से प्यार है, यहाँ तक कि पीले पत्ते और कूड़ा-कर्कट से भी—

"इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता,
इसका रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर पत्थर,
कूड़ा-कर्कट सब कुछ भू पर लगता सार्थक, सुन्दर।"[3]

प्रगतिवादी कविता में विश्व-प्रेम भी उसके मानव-प्रेम का ही एक आयाम है। पंत जी को अपने आँगन में आ जाने वाले बच्चे मानवता के नाते प्रिय लगते हैं—

"सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन
मानव के नाते उर में भरता अपनापन

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 46।
2. वही, पृ० 48।
3. वही, पृ० 17।

मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे,
रोम-रोम मानव साँचे में ढाले सच्चे।"[1]

युगवाणी में मानव प्रमुख है इसलिये कवि कहता है कि कला का आदर्श आत्माभिव्यक्ति नहीं उसकी उपयोगिता है। दर्शन-विज्ञान भी ऐसा हो जिसमें मनुजता का कल्याण हो—

"ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण
यह दर्शन-विज्ञान, मनुजता को हो जिसमें चिर कल्याण।"[2]

मानव प्रमुख है इसलिये चींटी की बात करते-करते कवि विषयान्तर हो जाता है और मानव की बात करने लगता है—

"हा मानव !
देह तुम्हारी ही है, रे शव !
तन की चिन्ता में घुल निशि-दिन
देह मात्र रह गये, दबा तिन।"[3]

प्रगतिवादी परिवर्तन को आवश्यक मानते हैं और मानते हैं कि क्रमशः अच्छा समय आता जाता है, अतः पंत ने कहा—

"झरते हों, झरने दो पत्ते, डरो न किंचित्
नवल मुकुल मंजरियों से भव होगा शोभित।"[4]

यहाँ लगता है कि युगांत की भावधारा ही अविच्छिन्न रूप से चली आई है। युगांत में भी उन्होंने कहा था—

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र
×　　　×　　　×
कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर पल्लव लाली।"[5]

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 15।
2. वही, पृ० 5।
3. वही, पृ० 10।
4. वही, पृ० 12।
5. युगांत, पृ० 9।

युगवाणी में प्रगतिवादियों की तरह शोषितों के प्रति सहानुभूति भी दिखलाई गई है। जो दुर्बल हैं उन्हें ही जग का वास्तविक अधिकारी कहा गया है। यह बात साम्यवाद से मेल खाती है—

"अस्थि मांस के इन जीवों का ही यह जग घर,
आत्मा का अधिवास न यह, वह सूक्ष्म, अनश्वर
न्योछावर है आत्मा नश्वर रक्त मांस पर
जग का अधिकारी है वह जो है दुर्बलतर।"[1]

पंत जी ने मनुष्य को देवताओं से भी श्रेष्ठ बताया है और उसकी सम्पूर्ण दुर्बलताओं के बावजूद उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया है—

"रक्त-मांस का जीव विविध
दुर्बलताओं से शोभित
मनुष्यत्व दुर्लभ सुरत्व से—
निष्कलंकता पीड़ित।"[2]

युगवाणी की 'कर्म का मन' कविता में कर्म की महत्ता पर बल दिया गया है—

"अतः कर्म को प्रथम स्थान दो,
भाव जगत् कर्मों से निर्मित।
× × ×
प्रथम कर्म, कहता जन-दर्शन
पीछे रे सिद्धान्त, मन, वचन।"[3]

'ओस बिन्दु', 'ओस के प्रति' शीर्षक कविताओं में प्रगतिवादी दृष्टि भले ही न हो पर उनकी स्पष्टता प्रगतिवादियों की ही देन है। उनमें वह वायवीयता तथा अस्पष्टता नहीं है जो छायावादी कविताओं में है। पल्लव की 'बादल' कविता जहाँ शुद्ध कल्पना है वहाँ 'कृष्ण घन' कविता में बादल जीवन-संदेश के वाहक हैं। उनका चित्रण कल्पना पर नहीं, यथातथ्यता पर आधारित है।

1. युगवाणी, पृ० 15।
2. वही—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 18।
3. वही, पृ० 36।

पंत पर प्रगतिवाद का इतना भारी प्रभाव होने पर भी वह युगवाणी में अपने पुराने संस्कारों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सके हैं। इसकी सूचना युगवाणी की प्रस्तावना से ही मिल जाती है। वे अभी भी पदार्थ या भौतिकवाद के प्रति पूर्ण आस्थावान नहीं हैं। "पदार्थ (मेटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[1] युगवाणी की कविताओं में भी प्राचीन संस्कार जहाँ-तहाँ विद्यमान है। 'बापू' शीर्षक कविता में कहा गया है—

"भूतवाद उस स्वर्ग के लिये है केवल सोपान
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।"[2]

पंत जी ने इन पंक्तियों को सम्पूर्ण युगवाणी की कुञ्जी कहा है।[3] उन्होंने संकीर्ण भौतिकवादियों की आलोचना भी की है। 'संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति' और 'समाजवाद गाँधीवाद' शीर्षक दो कविताएँ भी युगवाणी में हैं। वस्तुतः पंत जी के पुराने संस्कारों को सूचित करने के लिये ये स्थूल उदाहरण ही हैं। सूक्ष्म रूप से देखें तो उनके पुराने संस्कार उनकी कविताओं में जहाँ-तहाँ उभर आये हैं। उदाहरण के लिये 'नारी' कविता को लें। इसमें सन्देह नहीं कि नारी की स्वतंत्रता प्रगतिवाद का एक अनिवार्य अंग है। नारी न तो दासी है और न देवी ही। वह मनुष्य है—पुरुष के समान अधिकार वाली। उसकी मुक्ति के लिये पंत जी संघर्ष का आह्वान नहीं करते बल्कि जैसे पुरुष से याचना करते हैं कि वह नारी को मुक्त कर दे। मुक्ति के लिये यह याचना प्रगतिवाद से मेल नहीं खाती—

"मुक्त करो नारी को मानव,
चिर बंदिनि नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से,
जननि, सखी, प्यारी को।"[4]

इसमें सन्देह नहीं कि इस कविता में तथा इसके बाद 'नर की छाया' शीर्षक कविता में नारी की स्थिति का अत्यन्त सही चित्रण हुआ है और पंत जी उन

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, विज्ञापन, पृ० ङ।
2. वही, पृ० 1।
3. वही, विज्ञापन, पृ० ख।
4. वही, पृ० 46।

कारणों को भी खोजने में समर्थ हुए हैं जिनसे नारी आज इस स्थिति को प्राप्त हुई है। यह परवर्ती अंश जहाँ उनके नये दृष्टिकोण के निकट है वहाँ 'नारी' कविता का आरम्भिक अंश उनके पुराने संस्कारों का द्योतक है।

इसी प्रकार मनुष्य के भविष्य में आशा होने पर भी उसकी वर्तमान गिरी हुई दशा के कारणों को समझ लेने पर भी युगवाणी में पंत जी के सामने अभी मार्ग की स्पष्टता नहीं है। उन्होंने कृषक, श्रमजीवी आदि विभिन्न वर्गों का चित्रण किया है। लेकिन इन वर्गों की वर्ग-संघर्ष के समय क्या भूमिका होगी इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। इन वर्गों को संघर्ष के लिये प्रेरित करने में भी वे चूक गये हैं और शायद जान-बूझकर चूक गए हैं। भविष्य का स्पष्ट चित्र भी पंत के सामने नहीं है। इस बात को पंत के सहृदय समीक्षाकार शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी लक्षित किया है—"कवि स्वीकार करता है कि संसार परिवर्तित होगा और दुःख एवं विषाद के पश्चात् सुखमय जीवन का उदय होगा, पर उक्त काव्य-संग्रह में इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि समस्त प्राचीन एवं काल-विपरीत वस्तुओं के अनन्त में विलीन होने के पश्चात् जो जीवन आएगा, उसका स्वरूप क्या होगा?"[1]

युगवाणी में निराला पर एक और महावीरप्रसाद द्विवेदी पर पंत की दो कविताएँ संकलित हैं। अपने समकालीन कवि और आचार्य के प्रति रचित ये कविताएँ इस बात की द्योतक हैं कि पंत की दृष्टि अपने चारों ओर, अपने आस-पास भी है। उनकी यह दृष्टि स्वभावतः प्रगतिवाद के कारण ही निर्मित हुई है, क्योंकि प्रगतिवाद मनुष्य को आसपास के जीवन को देखने की अनिवार्य प्रेरणा देता है।

युगवाणी-काल में पंत जी का मन न तो पूरी तरह भारतीय संस्कारों से जुड़ा रह सका है और न पूरी तरह साम्यवाद का हो सका है। सम्भवतः इसी के परिणामस्वरूप युगवाणी की कविताओं में कहीं-कहीं परस्पर विरोधी मन्तव्य प्रकट हो गये हैं। उदाहरण के लिए **49** वीं कविता 'रूप सत्य' में कहा गया है—

"जीवन का चिर सत्य
नहीं दे सका मुझे परितोष,

---

1. युग और साहित्य, पृ० 234।

मुझे ज्ञान से वस्तु सुहाती,
सूक्ष्म बीज से कोष।"[1]

यहाँ उन्होंने सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल को महत्व दिया है। ज्ञान की तुलना में वस्तु को श्रेयस्कर माना है। पर 50 वीं कविता 'मुझे स्वप्न दो' में कहा गया है—

"वस्तु ज्ञान से ऊब गया मैं
सूखे मरु में डूब गया मैं,
मेरे स्वप्नों की छाया में,
जग का वस्तु सत्य जावे खो।"[2]

यहाँ वस्तुज्ञान अर्थात् स्थूल को तुलना में स्वप्न को महत्ता प्रदान की गई है। विभिन्न दर्शनों के बीच निरन्तर भटकाव के कारण परस्पर-विरोधी विचारों का प्रकट हो जाना स्वाभाविक ही है।

युगवाणी में दृष्टिकोण का बदलाव शैली के परिवर्तन में भी विद्यमान है। "युगवाणी स्वस्थ विचार तथा व्यापक मानवता की भावना को तदनुरूप अभिव्यक्ति देती है। इसकी शैली में परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।"[3] जिस प्रकार विचारों में मौलिकता और उपयोगिता का समावेश हुआ, उसी प्रकार शैली में भी एक प्रकार की मूर्तता और सीधापन आ गया। बात का महत्व है, बात कहने के ढङ्ग का इतना नहीं। उसको संवारने का प्रयत्न निष्फल है। अतएव अलंकरण सामग्री नित्य-प्रति के जीवन से ही ग्रहण करना उचित समझा गया। युगवाणी की अभिव्यंजना शैली का यही व्याख्यान है। उसमें पल्लव, गुंजन या ज्योत्स्ना के चित्रों का रूप-वैभव (Luxury) नहीं रहा। इस बात को स्पष्ट समझने के लिये दो उदाहरण लें। गंगा की साँझ का दृश्य है। एक चित्र गुंजन का है दूसरा युगवाणी का—

1. "अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्वहीन।

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 64।
2. वही, पृ० 65।
3. सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य—शांति जोशी, पृ० 409।

गंगा के चल जल में निर्मल
कुम्हला किरणों का रक्तोपल।
है मूँद चुका अपने मृदुदल,
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर।

× × ×

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अँचल।" (गुंजन)

2. "अभी गिरा रवि, ताम्रकलश सा,
गंगा के उस पार
क्लान्त पांथ जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ प्रसार।
भूरे जलदों से धूमिल नभ—
विहग-पंख-से बिखरे—
धेनु-त्वचा-से सिहर रहे
जल में रोओं-से छितरे।" (युगवाणी)

पहले में रूप और रङ्ग का विलास है—स्वप्न है, दूसरे में तथ्य का चित्रण। पहले छन्द का किरणों का 'रक्तोपल' दूसरे में 'ताम्रकलश' बन गया है। गुंजन का सोना और स्वप्न युगवाणी में विहग-पंख, धेनुत्वचा इत्यादि में परिवर्तित हो गया है।[1]

डॉ० नगेन्द्र ने ही नहीं अन्य समीक्षकों ने भी युगवाणी के शिल्प को शिथिल कहा है। इस शिथिलता को सिद्ध करने के लिये प्रायः गुंजन और युगवाणी की पंक्तियों को तुलनात्मक रूप में रख दिया गया है। वस्तुतः ऐसा करना युगवाणी के साथ अन्याय करना है। ऐसा करते समय समीक्षक यह भूल गये हैं कि वे छायावादी पंत की अत्यन्त श्रेष्ठ और सबसे बाद की कृति गुंजन की तुलना प्रगतिवादी पंत की आरम्भिक कृति युगवाणी से कर रहे हैं। गुंजन की रचना तक पंत का छायावादी कवि अपने प्रौढ़तम रूप में पहुँच चुका था। इसके विपरीत युगवाणी प्रगतिवादी पंत की आरम्भ की रचना है। दोनों की तुलना करने से स्वभावतः वही निष्कर्ष निकलेगा जो डॉ० नगेन्द्र आदि समीक्षकों ने निकाला है। हमारा आशय यह नहीं है कि युगवाणी के शिल्प में

---

1. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 144-145।

शिथिलता नहीं है। हमारा आशय तो केवल इतना है कि शिथिलता इतनी अधिक नहीं है जितनी युगवाणी को गुंजन की तुलना में रखने पर दिखाई देती है। दूसरे युगवाणी के शिल्प में जो शिथिलताएँ हैं वे अधिकांशतः वही हैं जो पंत-काव्य के साथ प्रारम्भ से ही चली आ रही हैं। उदाहरण के लिये चिर शब्द के प्रयोग को लें। युगवाणी में स्थान-स्थान पर इसका प्रयोग हुआ है—

1. **"चिर विरोध है निश्चित,"**[1]
2. **"चिर जीवन से अनुप्राणित"**[1]
3. **"चिर उदार वक्षस्थल"**[2]
4. **"झूके चिर उपकारक,"**[3]

इसी प्रकार पृष्ठ 10, 29, 33, 34, 35, 39, 43, 48, 50, 53, 54, 62 आदि पर भी यह शब्द आया है। लेकिन प्रश्न यह है कि मात्रा-पूर्ति के लिये या तकिया कलाम के रूप में पंत के द्वारा प्रयुक्त किया जाने वाला यह शब्द क्या युगवाणी की ही उपज है? क्या इसके पूर्व पंत-काव्य में इस भरती के शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है? वस्तुतः पंत-काव्य में आरम्भ से ही इस शब्द का प्रयोग मिलता है। पल्लव और गुंजन में ही नहीं ग्राम्या के बाद की रचनाओं में भी इस शब्द का प्रचुर प्रयोग विद्यमान है। ऐसी स्थिति में इसे केवल प्रगतिवादी पंत या युगवाणी के पंत की शिथिलता कहना उचित नहीं है।

इसी प्रकार युगवाणी की अनेक कविताओं में कृत्रिम भाषा का प्रयोग है, उदाहरण के लिये—

"स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत अंतर परिवर्तन।"[4]

इन पंक्तियों की भाषा सामान्य जनभाषा नहीं है। युगवाणी में ऐसी पचासों पंक्तियाँ हैं जिनके बारे में यह बात कही जा सकती है। तत्वान्वेषण, सकरण,

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 22।
2. वही, पृ० 17।
3. वही, पृ० 23।
4. वही, पृ० 27।

मरणासन्न, नवोद्भूत, वह्नि, मरणोन्मुख, प्ररोह, संसेवित, ऊर्ण, स्तनित, ऋक्ष आदि शब्दावली युगवाणी की विभिन्न कविताओं में बिखरी हुई है। लेकिन यहाँ भी प्रश्न यही है कि क्या इसके पूर्व पंत इस कठिन शब्दावली से मुक्त थे ? युगवाणी में हम उनसे जनभाषा की आशा इसलिये करते थे क्योंकि युगवाणी प्रगतिवादी काव्य-रचना है और प्रगतिवाद अप्रचलित, मृत भाषा की अपेक्षा जीवित जनभाषा पर बल देता है। हम यह स्वीकार करते हैं कि युगवाणी के पंत से यह आशा पूरी तरह पूरी नहीं हुई है। इतना होने पर भी युगवाणी की दिशा सरल और गत्यात्मक भाषा की ओर ही है। पंत की छायावादी काल की भाषा की तुलना में युगवाणी की भाषा जन-भाषा के अधिक निकट है। उदाहरण के लिये 'दो लड़के' कविता को लें—

> **"जल्दी से, टीले के नीचे, उधर उतरकर**
> **वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर,—**
> **सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,**
> **फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली।"[1]**

कदाचित् इसीलिए पंत ने युगवाणी को गीत गद्य कहा है। यदि युगवाणी की भाषा में गुंजन का-सा रेशमी मार्दव नहीं है तो हमें इसके लिए खेद करने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं डॉ० नगेन्द्र ने यह स्वीकार करते हुए भी कि युगवाणी की भाषा में अनेक गुणों का अभाव है, यह माना है कि उसमें भावों के अनुकूल नपे-तुले शब्दों का प्रयोग हुआ है।[2]

युगवाणी की भाषा में अखरने वाली बात रेशमी मार्दव का अभाव नहीं है, बल्कि कुछ-एक स्थलों पर उसका द्विवेदीयुगीन अभिव्यञ्जना के स्तर पर लौट जाना है, उदाहरण के लिए—

> **"मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद।**
> **सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।"[3]**
>
> × × ×
>
> **"नैतिकता से भी रहते जो अतः परिचित।"[4]**
>
> × × ×

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 15।
2. सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 145।
3. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 29।
4. वही, पृ० 31।

"नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य
आत्मा के उद्धार के लिए आये तुम अनिवार्य।"[1]

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम कविता को नहीं बल्कि किसी ऐसे शास्त्र को पढ़ रहे हैं जिसमें किन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचा गया हो। अविवाद, अतः, अनिवार्य आदि शब्द काव्योचित नहीं कहे जा सकते।

कविता की कई शैलियाँ हो सकती हैं, जिनमें प्रमुख हैं—(1) वस्तु-चित्रण शैली, (2) विचार कथन शैली, (3) भावाभिव्यंजन शैली, (4) उद्बोधन शैली और (5) व्यंग्यात्मक शैली।

विचार कथन शैली के कुछ प्रतिनिधि उदाहरण युगवाणी में मिलते हैं, जैसे श्रमजीवी, नारी, मध्य वर्ग, धनपति, साम्राज्यवाद आदि कविताओं में। 'उद्बोधन' कविता में उद्बोधन शैली के दर्शन होते हैं।

युगवाणी में साधारणतः समृद्ध बिम्ब-विधान भी है। स्पर्श बिम्ब, ध्वनि बिम्ब, मिश्रित संवेदनाओं के बिम्ब आदि के उदाहरण देखे जा सकते हैं—

ध्वनि बिम्ब—

"सर्-सर्-मर्-मर्
रेशम के से स्वर भर
घने नीम दल
लम्बे, पतले, चंचल,
श्वसन-स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल-हिल उठते प्रतिपल।"[2]

स्पर्श बिम्ब—

"तूल जलद, ऊर्ण जलद
तुम धूम जलपूर्ण जलद।"[3]

मिश्रित संवेदनाओं के बिम्ब—

"देखो भू को !
जीव प्रसू को !

---

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 1।
2. वही, पृ० 75।
3. वही, पृ० 79।

हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कूंजित गुञ्जित
कुसुमित
भू को।"[1]

यहाँ हरित रंग दृष्टि से सम्बन्धित है और कूञ्जित गुञ्जित आदि ध्वनि से। युगवाणी के चित्रों में विचित्र सूक्ष्मता है—

"नील निरभ्र गगन पर
चित्रित-से दो तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर
मन को सुखकर।"[2]

सैद्धान्तिक कविताओं में कुछ स्केच बहुत अच्छे हैं—

"मध्य वर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी-प्रिय।"[3]

× × ×

"वज्र, मूढ़, जड़, भूत, हठी, वृष बाँधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।"[4]

युगवाणी में अनेक सुन्दर वैचित्र्यपूर्ण चित्रणात्मक कविताएँ हैं। 'घन-नाद', 'ओस के प्रति', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम', 'कैलिफोर्निया पॉपी', 'कृषक', 'मध्य वर्ग', 'गंगा की सांझ', 'दो लड़के', 'चींटी', 'पुष्प प्रसू' आदि में अर्थ ध्वनि के साथ ध्वनि-चित्रण, राग-चित्रण, रेखा-स्वर-चित्रण और विचार-चित्रण हैं।

युगवाणी में न तो कोई नया अलंकार है और न ही पुराने अलंकार अधिक संख्या में आये हैं। कहीं-कहीं रूपक, अनुप्रास, उपमा, मानवीकरण के उदाहरण देखे जा सकते हैं। पंत जी ने स्वयं युगवाणी के दृष्टिपात में कहा है कि "इसका

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 7।
2. वही, पृ० 74।
3. वही, पृ० 32।
4. वही, पृ० 33।

काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचार-प्रधान है।" ग्राम्या में भी पंत जी ने कहा है—

"वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिये अलंकार।"

लेकिन यह कथन ग्राम्या पर कम युगवाणी पर अधिक चरितार्थ होता है। अलंकारों के प्रति प्रगतिवादी कविता का दृष्टिकोण भी मोटे तौर पर यही रहा है।

युगवाणी में आए कुछ अलंकारों पर दृष्टिपात किया जा सकता है—

उपमा—

"भूरे जलदों से धूमिल नभ
विहग पंख से बिखरे
धेनु त्वचा-से सिहर रहे
जल में 'रोओं' से छितरे।"[1]

× × ×

"वह सरल विरल काली रेखा,
तम के तागों सी जो हिलडुल।"[2]

विरोधाभास—

"जन्मशील है मरण, अमर मरमर कर जीवन।"[3]

रूपक—

"विश्व क्षितिज में घिरे पराभव के हैं मेघ भयंकर।"[4]

मानवीकरण—

"शांत, स्निग्ध संध्या सलज्ज मुख
देख रही जल तल में,
नीलारुण अंगों की आभा
छहरी लहरी दल में।"[5]

---

1. युगवाणी, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 19।
2. वही, पृ० 9।
3. वही, पृ० 12।
4. वही, पृ० 28।
5. वही, पृ० 19।

हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कूंजित गुञ्जित
कुसुमित
भू को।"[1]

यहाँ हरित रंग दृष्टि से सम्बन्धित है और कूञ्जित गुञ्जित आदि ध्वनि से। युगवाणी के चित्रों में विचित्र सूक्ष्मता है—

"नील निरभ्र गगन पर
चित्रित-से दो तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर
मन को सुखकर।"[2]

सैद्धान्तिक कविताओं में कुछ स्केच बहुत अच्छे हैं—

"मध्य वर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी-प्रिय।"[3]

× × ×

"वज्र, मूढ़, जड़, भूत, हठी, वृष बाँधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।"[4]

युगवाणी में अनेक सुन्दर वैचित्र्यपूर्ण चित्रणात्मक कविताएँ हैं। 'घन-नाद', 'ओस के प्रति', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम', 'कैलिफोर्निया पॉपी', 'कृषक', 'मध्य वर्ग', 'गंगा की सांझ', 'दो लड़के', 'चींटी', 'पुष्प प्रसू' आदि में अर्थ ध्वनि के साथ ध्वनि-चित्रण, राग-चित्रण, रेखा-स्वर-चित्रण और विचार-चित्रण हैं।

युगवाणी में न तो कोई नया अलंकार है और न ही पुराने अलंकार अधिक संख्या में आये हैं। कहीं-कहीं रूपक, अनुप्रास, उपमा, मानवीकरण के उदाहरण देखे जा सकते हैं। पंत जी ने स्वयं युगवाणी के दृष्टिपात में कहा है कि "इसका

1. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 7।
2. वही, पृ० 74।
3. वही, पृ० 32।
4. वही, पृ० 33।

काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचार-प्रधान है।" ग्राम्या में भी पंत जी ने कहा है—

"वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिये अलंकार।"

लेकिन यह कथन ग्राम्या पर कम युगवाणी पर अधिक चरितार्थ होता है। अलंकारों के प्रति प्रगतिवादी कविता का दृष्टिकोण भी मोटे तौर पर यही रहा है।

युगवाणी में आए कुछ अलंकारों पर दृष्टिपात किया जा सकता है—

उपमा—

"भूरे जलदों से धूमिल नभ
विहग पंख से बिखरे
धेनु त्वचा-से सिहर रहे
जल में 'रोओं' से छितरे।"[1]

× × ×

"वह सरल विरल काली रेखा,
तम के तागों सी जो हिलडुल।"[2]

विरोधाभास—

"जन्मशील है मरण, अमर मरमर कर जीवन।"[3]

रूपक—

"विश्व क्षितिज में घिरे पराभव के हैं मेघ भयंकर।"[4]

मानवीकरण—

"शांत, स्निग्ध संध्या सलज्ज मुख
देख रही जल तल में,
नीलारुण अंगों की आभा
छहरी लहरी दल में।"[5]

---

1. युगवाणी, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 19।
2. वही, पृ० 9।
3. वही, पृ० 12।
4. वही, पृ० 28।
5. वही, पृ० 19।

छंद को मान्यता देते हुए भी प्रगतिवादियों ने उन्हें बहुत अधिक महत्व नहीं दिया है। "वैसे उन्होंने कविता की छंद-बंधन से मुक्ति की भी कई बार उसी प्रकार कामना की है जिस प्रकार कि वे जनता की मुक्ति की कामना करते हैं।"[1] पंत जी भी युगवाणी में कहते हैं—

"खुल गये छंद के बंध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त
ओ युगवाणी बहती अयास।"[2]

युगवाणी का समर्पण निराला के लिये है। निराला पर पंत की एक कविता भी इसमें संकलित है और उस कविता में भी निराला की मुक्त छंद सम्बन्धी विशेषता का उल्लेख ही सबसे पहले हुआ है—

"छंद बंद ध्रुव तोड़ फोड़कर पर्वतकारा
अचल रूढ़ियों की, कवि ! तेरी कविताधारा।"[3]

इस सबसे यह आशा बँधती है कि युगवाणी में छंद के सम्बन्ध में कोई विशेष साहस पंत ने दिखाया होगा, लेकिन ऐसा है नहीं। अधिकांश कविताएँ छंदबद्ध हैं और छंद भी प्रायः सरल मात्रिक हैं। तुकों की योजना भी कहीं-कहीं उबाने वाली प्रतीत होती है, जैसे कार्य-अनिवार्य, गाँधीवाद-अविवाद, भूल-कूल-मूल, प्रचारक-प्रतारक, अभिभावक-प्रभावक आदि। इतना सब होने पर भी युगवाणी के शिल्प का महत्व इस दृष्टि से आँका जाना चाहिए कि पंत उसमें अपनी कविता को कलात्मकता के अनावश्यक बोझ से मुक्त करने के लिये सचेष्ट रहे। अनावश्यक बोझ से छुटकारा पाने की चेष्टा में थोड़ा-बहुत आवश्यक बोझ भी दूर जा गिरा हो तो इसके लिये विशेष खेद नहीं होना चाहिए। क्योंकि मुक्ति की चेष्टा में कई बार उससे भी मुक्त हो बैठते हैं जो वांछनीय होता है। मुक्ति-कामना के सुस्थिर हो जाने पर हम वांछनीय को स्वयं ग्रहण कर लेते हैं। पंत ने स्वयं ग्राम्या में वह सब फिर ग्रहण कर लिया है, जो शिल्प के सन्दर्भ में वांछित होते हुए भी युगवाणी में छूट गया था।

● ●

---

1. आधुनिक काव्य भाषा—रामकुमारसिंह, पृ० 685।
2. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 3।
3. वही, पृ० 80।

अध्याय 5

ग्राम्या

"सन् 1940 के वसंत में प्रयाग के भारती भण्डार ने पंत जी का ग्राम्या नामक कविता संग्रह प्रकाशित किया।"[1] ग्राम्या का रचना-काल दिसम्बर, 1939 से फरवरी, 1940 है। इसमें छोटी-बड़ी कुल 53 कविताएँ हैं।

ग्राम्या प्रगतिवादी पंत की अन्तिम और प्रौढ़ कृति है। "इस पुस्तक के साथ पंत जी की काव्य-साधना का सबसे महत्वपूर्ण कालखण्ड समाप्त होता है। इसमें जैसे कवि के लगभग दस-वर्षीय ग्रामीण जीवन-काल का कुल जोड़ ही प्रस्तुत है।"[1]

ग्राम्या नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्राम-जीवन से सम्बन्धित है। इस तरह यह भारत की 80 प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व करती है। युगांत एवं युगवाणी में कवि की स्थिति एक दर्शक की भांति है। इसके विपरीत ग्राम्या में वह ग्रामीणों के साथ घुल-मिल गया है। युगांत और युगवाणी में ग्राम्य जीवन पर कविताएँ संख्या में भी नगण्य हैं। इसके विपरीत ग्राम्या में कवि की दृष्टि पूरी तरह ग्राम-जीवन पर है। युगांत एवं युगवाणी में पंत ने साम्यवाद के जो सिद्धांत ग्रहण किये हैं वे उसने अध्ययन तथा पी० सी० जोशी के सम्पर्क से किये हैं। आशावादिता, समानता, सम्पत्ति का बँटवारा, मजदूरों, कृषकों आदि में सिद्धांत पक्ष अधिक है। किन्तु केवल सिद्धांत का कथन निराकार होता है। अतः युगवाणी और युगांत में साकारता का अभाव है। ग्राम्या में गांव के जीवन को निकट से देखा गया है। इसमें कविता के विषय मांसल हैं। अतः इन कविताओं में मांसलता अधिक तथा वायवीयता कम है। और यही कारण है कि ये हमें अपने अधिक निकट दीख पड़ती हैं। "युगांत तथा युगवाणी नामक संग्रहों में मुख्यतया साधारणीकृत भाववादी रूप में प्रस्तुत कल्पनाओं एवं विचारों को ग्राम्या संग्रह की रचनाओं में जीवन्त

1. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता—ई० चेलिशेव, पृ० 145।

ठोसपन तथा यथार्थ परिस्थिति के साथ अनुभवजनित सम्बन्ध प्राप्त हुआ है।"[1] ग्राम्या में साम्यवाद के सिद्धांतों को कवि ने हजम करके व्यवहार में घटित किया है। "युगवाणी प्रगतिवादी पंत का सिद्धांत वाक्य था—ग्राम्या उसका प्रयोग।"[2]

विनयमोहन शर्मा के अनुसार ग्राम्या की कविताओं को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है,[3] जो इस प्रकार हैं—(1) ग्राम्य दर्शन, (2) ग्राम्य चिंतन, (3) विविध।

पहले वर्ग में ग्रामीण रीति-रिवाजों, ग्रामों के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, तरुण आदि का रूप-वर्णन तथा प्रकृति-वर्णन है। इस वर्ग में ग्राम्या की 'ग्राम-युवती', 'ग्राम-नारी', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'धोबियों का नृत्य', 'ग्रामवधु', 'ग्रामश्री', 'नहान', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र नृत्य', 'संध्या के बाद', 'दिवा-स्वप्न', 'मजदूरनी के प्रति' आदि कविताएँ आती हैं।

दूसरे वर्ग में 'ग्राम कवि', 'ग्राम', 'ग्राम दृष्टि', 'ग्राम चित्र', 'कठपुतले,' 'वे आँखें', 'ग्राम देवता', 'संध्या के बाद', 'भारत ग्राम' आदि आती हैं। इन कविताओं का कवि कभी ग्रामवासियों के अज्ञान पर क्षुब्ध होता है और कभी उनके गर्हित पशुतुल्य जीवन से व्यथित होता है।

तीसरे वर्ग में ग्राम का बाहरी-भीतरी रूप ही नहीं, अन्य विषय भी समाविष्ट हैं—जैसे 'भारत-माता', 'महात्मा जी के प्रति', 'राष्ट्रगान,' 'सौन्दर्य कला', 'अहिंसा,' 'आधुनिका' आदि।

प्रगतिवाद का मुख्य विषय जन-जीवन है और भारत में ग्राम ही जन-जीवन का केन्द्र है। स्वयं पंत ने भारत-माता को ग्रामवासिनी कहा है।[4] पंत जी की ग्राम्या का मुख्य विषय भी ग्राम-जीवन ही है।

एक ओर तो प्रगतिवादी कविता में समसामयिक यथार्थ के सामान्य रूपों को व्यापक अभिव्यक्ति मिली है और दूसरी ओर वह विशिष्ट समसामयिक

1. सुमित्रानन्दन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता—ई० चेलिशेव, पृ० 145।
2. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 150।
3. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन—संपादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० 51।
4. 'भारतमाता ग्रामवासिनी,' ग्राम्या, पृ० 48।

स्थितियों के प्रति सर्वाधिक सजग कविता रही है। सामाजिक यथार्थ के इन
सामान्य रूपों के चित्रण में सामाजिक आर्थिक वर्गों और उनके विभिन्न स्तरों
के बिम्बन के अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक संगठनों और इकाइयों—परिवार,
ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि का और इनसे सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं और
संघर्षों का चित्रण भी आ जाता है। समसामयिक यथार्थ के सामान्य रूपों का
चित्रण ग्राम्या में है। सच पूछा जाय तो प्रायः सम्पूर्ण ग्राम्या ही समसामयिक
यथार्थ के सामान्य रूप का व्यापक चित्र प्रस्तुत करती है। कविताओं के शीर्षकों
से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'ग्राम,' 'ग्राम-युवती,' 'ग्राम नारी,'
'ग्रामवधू,' 'नहान' जैसी अनेक कविताओं में यथार्थ का सामान्य रूप देखने को
मिलता है। इसके विपरीत 'वह बुड्ढा,' 'वे आँखें' जैसी कविताओं में विशिष्ट
समसामयिक जीवन-चित्र हैं।

प्रगतिवादी कविता में ग्राम्य जीवन के यथार्थ चित्र मिलते हैं। उसे गुप्त
जी की तरह गौरवान्वित नहीं किया गया है। ग्राम्या में भी ग्राम-जीवन के
यथार्थ और व्यापक चित्र हैं। ग्राम्य जीवन की कुत्सा का चित्रण भी पंत जी
ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया है। ग्राम्यजनों के विषय में उन्होंने लिखा है—

> **"ये जीवित हैं या जीवन्मृत !**
> **या किसी काल-विष से मूर्छित ?**
> **ये मनुजाकृति ग्रामिक अगणित !**
> **स्थावर, विषण्ण, जड़वत स्तम्भित !"[1]**

पंत जी ने ग्राम्या में गाँव को उसकी समग्रता में ग्रहण किया है। गाँव
वस्तुतः जैसे हैं वैसे चित्रित हुए हैं। साम्यवादी भावना के अन्तर्गत वस्तु को
यथार्थ रूप में देखने का सिद्धांत स्वीकृत है। पंत ग्रामीण जीवन की विवशता
का चित्र प्रस्तुत करते हैं—

> **"यहाँ नहीं है चहल-पहल वैभव विस्मित जीवन की,**
> **यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ मर्मर ले वन की।**
> **आता मौन प्रभात अकेला संध्या भरी उवासी,**
> **यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी।"[2]**

---

1. ग्राम्या, पृ० 22।
2. वही, पृ० 16।

जातीयता के कारण होने वाले कुत्सित कार्य भी कवि की दृष्टि से बच नहीं पाए हैं—

"ये समाज के नीच अधम जन,
नाच कूद कर बहलाते मन,
वर्गों के पद दलित चरण ये,
मिटा रहे निज कसक औ कुढ़न ।"[1]

प्रगतिवादी कविता में किसान-जीवन के व्यापक रूपायन के अतिरिक्त ग्राम्य जीवन के अन्य अंगों को भी वाणी मिली है । इस सन्दर्भ में पंत जी के खींचे हुए गाँव के लड़कों और ग्राम-नारी के चित्र भी द्रष्टव्य हैं । गाँव के लड़कों के चित्र में जहाँ यथार्थ के एक पहलू पर जोर है, वहाँ 'ग्राम-नारी' के चित्र में उसके दूसरे पहलू पर—

"मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण बसन,—
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गंवई लड़के भू के धन ।"[2]

और—

"है माँस पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता,
संयोग अवयवों में, अश्लथ उसके उरोज,
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज !
वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति,
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीड़ित,
कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति
अग्रजा नागरी की,—यह ग्रामवधू निश्चित ।"[3]

किसान के जीवन का स्पष्ट करुण चित्र 'वे आँखें' कविता में मिलता है—

"अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,

1. ग्राम्या, पृ० 46 ।
2. वही, पृ० 27 ।
3. वही, पृ० 21 ।

भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन !"[1]

और साँझ के समय अपनी दूकान पर बैठे हुए गाँव के बनिये का यह चित्र भी कम प्रभावक नहीं है—

धुआँ अधिक देती है
टिन की ढबरी, कम करती उजियाला,
मन से कढ़ अवसाद श्रांति
आँखों के आगे बुनती जाला ।"[2]

× × ×

"टूट गया वह स्वप्न वणिक् का,
आई जब बुढ़िया बेचारी
आधा पाव आटा लेने,—
लो, लाला ने फिर डंडी मारी ।"[3]

कई प्रगतिवादी कविताओं में आधुनिक फैशनेबल सम्पन्न वर्गीय नारियों पर वाक् प्रहार किया गया है । पंत भी ऐसी ही आधुनिका पर व्यंग्य करते हैं और कहते हैं कि वह सब कुछ हो सकती है पर नारी नहीं—

"लहरी सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल फूल पर मंडराती मधुक्षण हित !
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करतीं आत्मसमर्पण,
तुम्हे सुहाता रंग प्रणय, धन पद-मद आत्मप्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो—फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी ।"[4]

प्रगतिवादी कविता का आदर्श है कि वह साधारण जनों के दुःख-सुख की वाणी बन सके, अतः उसमें उनके जीवन की विषमताओं तथा हँसी-खुशी, नाच-गान, तीज-त्यौहार को भी—उनकी संस्कृति को भी अभिव्यक्ति दी गई है ।

---

1. ग्राम्या, पृ० 24 ।
2. वही, पृ० 65 ।
3. वही, पृ० 67 ।
4. वही, पृ० 83 ।

ग्राम्या में 'धोबियों का नृत्य,' 'चमारों का नाच' और 'कहारों का रुद्र-नृत्य' ऐसी ही कविताएँ हैं। होली पर नाचते हुए धोबियों को देखिये—

"उड़ रहा ढोल धा धिन, धा तिन,
औ' हुड़ुक घुड़ुकता ढिम ढिम ढिन
मंजीर खनकते खिन खिन खिन,
मद मस्त रजक, होली का दिन
लो छन छन, छन छन,
छन छन, छन, छन,
थिरक गुजरिया हरती मन !"[1]

कहारों के रुद्र नृत्य को देख कर पंत लोक-संस्कृति के एक नये ही संसार से अभिभूत हो उठते हैं—

"खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखलाकर !
युग युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अंतर
जन मानस गौरव पर विस्मित मैं भावी चिन्तन पर !"[2]

प्रगतिवाद में आंचलिक यथार्थ की प्रवृत्ति अपने देश के विभिन्न अंचलों और लोकसंस्कृति के अंकन तक ही सीमित नहीं है। वह देश के समग्र चित्रण और अन्तर्राष्ट्रीय यथार्थ के रूपायन में भी व्यक्त हुई है। गुलाम भारत का एक समग्र और सुन्दर चित्र पंत की प्रसिद्ध कविता 'भारत-माता' में खींचा गया है—

"दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी।

तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,

---

1. ग्राम्या, पृ० 31।
2. वही, पृ० 47।

मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी !"[1]

प्रगतिवादी कविता अपने दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है। प्रश्न उठता है कि क्या भारतवर्ष के कालाकांकर के आस-पास के गाँवों का चित्रण अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विरुद्ध नहीं है। ऊपर से देखने पर यह लग सकता है कि एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र के प्रति प्रेम प्रकट करना अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विरोध में जाता है। लेकिन वस्तुतः ऐसा है नहीं। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एक निराकार कल्पना है। उसके प्रति समर्पण का भाव हमें अनिवार्य रूप से किसी न किसी भौगोलिक खण्ड से तो जोड़ेगा ही। फिर एक भौगोलिक खण्ड विस्तृत संसार का ही तो एक अंग है। उसके प्रति प्रेम विस्तृत संसार के प्रति प्रेम ही है। घर के एक कोने को सफा करना पूरे घर को साफ करने का अंग ही तो है। यह समझना कठिन है कि एक कोने की सफाई का पूरे घर की सफाई से क्यों और कैसे विरोध हो सकता है ? इसलिये ग्राम्या की कविताएँ अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विरोध में नहीं हैं। आगे चलकर अनेक साम्यवादी कवियों ने, जो साम्यवाद में पंत की अपेक्षा अधिक निष्ठापूर्वक दीक्षित हैं, पंत की इस प्रवृत्ति को ग्रहण किया है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार अग्रवाल आदि कवियों में उनके गाँव अत्यन्त आत्मीयता के साथ चित्रित हुए हैं। ग्राम्या की 'ग्राम देवता' कविता में पंत ने स्थूल रूप में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तक जाने का यत्न भी किया है, जैसे—

"देशों राष्ट्रों को मानव जग बनना निश्चय,
अंतर्जग को फिर लेना बहिर्जगत आश्रय।"[2]

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि पंत स्वयं इस शंका से पीड़ित रहे कि कहीं ऐसा न हो कि उन्हें भारतीय ग्राम्य जीवन के चित्रों के कारण अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विरोधी समझ लिया जाय। इसलिये उन्होंने उक्त उल्लेख द्वारा अपनी स्थिति को स्पष्ट करने का यत्न किया है। यह स्पष्टीकरण पूरी कविता में आरोपित-सा प्रतीत होता है। जैसाकि हम कह चुके हैं, इसके बिना भी पंत को अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विरोधी नहीं कहा जा सकता था।

---

1. ग्राम्या, पृ० 48।
2. वही, पृ० 60।

प्रगतिवादी कवियों की प्रकृति संबंधी अधिकांश कविताएँ गाँव की सरल सादी प्रकृति के चित्र खींचती हैं। पंत की 'ग्राम-श्री' ऐसी ही कविता है। पंत ने जहाँ ग्राम-चित्र में ग्राम का यथार्थ चित्रण करते समय जन के कष्टों का चित्रण किया है, वहाँ प्रकृति का प्रफुल्लित रूप भी बताया है—

"रोमांचित सी लगती बसुधा
आई जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोंने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।

× × ×

रंग रंग के फूलों में रिल मिल
हँस रही संखिया मटर खड़ी।"[1]

गाँव की दयनीय अवस्था का यथार्थ चित्रण देखिये—

"सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?—
जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन
कीड़ों-से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन!"[2]

और दयनीय अवस्था के साथ ही कलह की ओर भी कवि का ध्यान गया है—

"यहाँ खर्व नर (वानर ?) रहते युग युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !

× × ×

गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।"[3]

रूढ़ियों के प्रति ग्रामवासियों के विश्वासों और उनकी अविद्या को भी पंत देखते हैं—

---

1. ग्राम्या, पृ० 5।
2. वही, पृ० 13।
3. वही, पृ० 16।

"चिर रूढ़ि रीतियों के गोपन
सूत्रों में बँध करते नर्तन ।"[1]

× × ×

"ये दारु मूर्तियाँ हैं चित्रित,
जो घोर अविद्या में मोहित,"[1]

पंत ने गाँव के अभावात्मक पक्ष को ही चित्रित नहीं किया है, उसके भावात्मक पक्ष को भी चित्रित किया है। गाँव में अविद्या है, दैन्य है, कलह है— फिर भी गाँव शहर के बहुत-से दोषों से मुक्त है। वहाँ जीवन अपेक्षाकृत अधिक सहज और कुंठाहीन है। सभी मानवीय संबंध और विशेष रूप से नर-नारी के पारस्परिक संबंध वहाँ किन्हीं ग्रन्थियों से ग्रस्त नहीं हैं। उनमें वे विकृतियाँ नहीं हैं जो नगर की आधुनिक स्त्रियों में देखने को मिलती हैं। नगर की आधुनिक स्त्री को तो पंत स्त्री मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं—

"आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी।"[2]

ऐसी विकृतियों से ग्रस्त आधुनिक नागरिक जीवन की तुलना में पंत की ग्राम्या के गाँव द्रष्टव्य हैं—

"मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों ही में अंतर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।
शिक्षा के सत्याभासों से ग्राम नहीं हैं पीड़ित,
जीवन के संस्कार अविद्या-तम में जन के रक्षित।"[3]

यहाँ पंत ने गाँव को गौरवान्वित करने का यत्न नहीं किया है। गाँव वस्तुतः जैसे हैं वैसे चित्रित किये गये हैं। पंत ने न तो प्रयत्नपूर्वक विकृतियों को ढूँढ़ा है और न केवल विकृतियों को ही चित्रित किया है। इस दृष्टि से देखें तो वे केवल अभावात्मक पक्ष देखने वाले अनेक प्रगतिवादी कवियों से भिन्न हैं।

प्रगतिवादी मानव को प्रमुख मानते हैं। पंत जी भी ज्ञान, तर्क, संस्कृति आदि को जन-जीवन से तुच्छ समझते हैं—

---

1. ग्राम्या, पृ० 23।
2. वही, पृ० 83।
3. वही, पृ० 14।

प्रगतिवादी कवियों की प्रकृति संबंधी अधिकांश कविताएँ गाँव की सरल सादी प्रकृति के चित्र खींचती हैं। पंत की 'ग्राम-श्री' ऐसी ही कविता है। पंत ने जहाँ ग्राम-चित्र में ग्राम का यथार्थ चित्रण करते समय जन के कष्टों का चित्रण किया है, वहाँ प्रकृति का प्रफुल्लित रूप भी बताया है—

"रोमांचित सी लगती बसुधा
आई जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।
× × ×
रंग रंग के फूलों में रिल मिल
हँस रही संखिया मटर खड़ी।"[1]

गाँव की दयनीय अवस्था का यथार्थ चित्रण देखिये—

"सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?—
जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन
कीड़ों-से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन !"[2]

और दयनीय अवस्था के साथ ही कलह की ओर भी कवि का ध्यान गया है—

"यहाँ खर्व नर (वानर ?) रहते युग युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !
× × ×
गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।"[3]

रूढ़ियों के प्रति ग्रामवासियों के विश्वासों और उनकी अविद्या को भी पंत देखते हैं—

1. ग्राम्या, पृ० 5।
2. वही, पृ० 13।
3. वही, पृ० 16।

"चिर रूढ़ि रीतियों के गोपन
सूत्रों में बँध करते नर्तन ।"[1]

× × ×

"ये दारु मूर्तियाँ हैं चित्रित,
जो घोर अविद्या में मोहित,"[1]

पंत ने गाँव के अभावात्मक पक्ष को ही चित्रित नहीं किया है, उसके भावात्मक पक्ष को भी चित्रित किया है। गाँव में अविद्या है, दैन्य है, कलह है—फिर भी गाँव शहर के बहुत-से दोषों से मुक्त है। वहाँ जीवन अपेक्षाकृत अधिक सहज और कुंठाहीन है। सभी मानवीय संबंध और विशेष रूप से नर-नारी के पारस्परिक संबंध वहाँ किन्हीं ग्रन्थियों से ग्रस्त नहीं हैं। उनमें वे विकृतियाँ नहीं हैं जो नगर की आधुनिक स्त्रियों में देखने को मिलती हैं। नगर की आधुनिक स्त्री को तो पंत स्त्री मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं—

"आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी।"[2]

ऐसी विकृतियों से ग्रस्त आधुनिक नागरिक जीवन की तुलना में पंत की ग्राम्या के गाँव द्रष्टव्य हैं—

"मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों ही में अंतर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।
शिक्षा के सत्याभासों से ग्राम नहीं हैं पीड़ित,
जीवन के संस्कार अविद्या तम में जन के रक्षित।"[3]

यहाँ पंत ने गाँव को गौरवान्वित करने का यत्न नहीं किया है। गाँव वस्तुतः जैसे हैं वैसे चित्रित किये गये हैं। पंत ने न तो प्रयत्नपूर्वक विकृतियों को ढूँढ़ा है और न केवल विकृतियों को ही चित्रित किया है। इस दृष्टि से देखें तो वे केवल अभावात्मक पक्ष देखने वाले अनेक प्रगतिवादी कवियों से भिन्न हैं।

प्रगतिवादी मानव को प्रमुख मानते हैं। पंत जी भी ज्ञान, तर्क, संस्कृति आदि को जन-जीवन से तुच्छ समझते हैं—

---

1. ग्राम्या, पृ० 23।
2. वही, पृ० 83।
3. वही, पृ० 14।

"ज्ञान वृथा है, तर्क व्यथा, संस्कृतियाँ व्यर्थ पुरातन,
प्रथम जीव है मानव में, पीछे है सामाजिक जन।
मनुष्यत्व के मान वृथा, विज्ञान वृथा रे दर्शन,
वृथा धर्म, गणतंत्र, उन्हें यदि प्रिय न जीव जन-जीवन।"[1]

'वे आँखें' कविता में शोषित किसान का एकदम सही चित्रण हुआ है। इस कविता को पढ़ कर हमें उपन्यास सम्राट् प्रेमचंद के गोदान उपन्यास के पात्र होरी की याद आ जाती है। इस कविता में बताया गया है कि किस प्रकार से एक किसान लुट जाता है और धन के अभाव में उसकी स्त्री तथा बच्ची मर जाती है। कोतवाल के चरित्र का भी संकेत इसमें है, जिसके कारण किसान की पतोहू को आत्महत्या करने के लिए विवश होना पड़ा है।

ग्राम्या में नारी पर अनेक कविताएँ हैं, उदाहरण के लिए 'ग्राम युवती', 'ग्राम नारी', 'ग्रामवधू', 'स्त्री', 'आधुनिका' और 'मजदूरनी के प्रति'। इन सभी कविताओं में मुख्यतः तीन स्वर हैं—(1) ग्रामीण स्त्री के कष्टों का वर्णन, (2) आधुनिक नागरिक स्त्री की तुलना में उसके सहज रूप और मन का कथन। "मुख्य प्रयोजन कवि का यह रहा है कि ग्राम-नारी के मुक्त, स्वस्थ, कृत्रिमतारहित, कार्य-विरत, उपेक्षित जीवन के सामने झूठी, निष्प्राण, विलास-प्रिय नागरिकाओं को रखे, जिनका जीवन 'जग से चिर अज्ञात' अपने ही सौन्दर्य-वर्द्धन में लीन है।"[2] (3) नारी को मुक्त करने का आह्वान। ग्राम्या की 'नारी' कविता में युगवाणी की 'नारी' कविता के समान ही उसे मुक्त करने को कहा है—

"योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।"[3]

पंत लिंग-भेद के आधार पर नर-नारी के वर्गीकरण को मिथ्या मानते हैं। वे नारी को मानवी के रूप में देखना चाहते हैं। नारी को मानवी कहने के पीछे आशय यह है कि नारी सम्पूर्ण मानव समाज का ही एक अंग है। इसलिए उसे भी वे सब अधिकार प्राप्त होने चाहिए, जो मानव समाज को प्राप्त हैं।

---

1. ग्राम्या, पृ० 15।
2. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य-कला और जीवन-दर्शन—संपादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० 228।
3. ग्राम्या, पृ० 85।

'मजदूरनी के प्रति' रचना में नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मजदूरनी निर्भय है, उसमें किसी प्रकार की ग्रन्थि नहीं है, कृत्रिम लज्जा भी नहीं है, वह सच्ची मानवी है। इसके विपरीत आधुनिक नारी कुण्ठाग्रस्त है—

'नारी की संज्ञा भुला, नरों के संग बैठ,
चिर जन्म सुहृद सी जन हृदयों में सहज पैठ,
जो बंटा रहीं तुम जग जीवन का काम-काज
तुम प्रिय हो मुझे, न छूती तुमको काम लाज।
× × ×
स्त्री नहीं, आज मानवी बन गईं तुम निश्चित,
जिसके प्रिय अंगों को छू अनिलातप पुलकित।"[1]

ग्राम्या में राष्ट्रीय जागरण के भी गीत हैं—'भारत माता' तथा 'राष्ट्र-गीत'। पूर्ण रूप में जन-जागरण का सामूहिक गान है। देश की चेतनता, महत्ता तथा पवित्रता की ओर भी कवि का ध्यान रहा है—

"जन भारत हे!
भारत हे!
× × ×
समुच्चरित शत - शत कंठों से
जन युग स्वागत हे,
सिंधु तरंगित, मलय श्वसित,
गंगा जल ऊर्मि निरत हे,
शरद इंदु स्मित अभिनंदन हित,
प्रतिध्वनित पर्वत हे,
स्वागत हे, स्वागत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे।"[2]

प्रगतिवाद के अनुरूप पंत रूढ़ियों, संस्कारों, प्राचीन संस्कृति को दूर करना चाहते हैं—

---

1. ग्राम्या, पृ० 84।
2. वही, पृ० 54-55।

**"खोलो जीर्ण विश्वासों, संस्कारों के शीर्ण वसन,
रूढ़ियों, रीतियों, आचारों के अवगुंठन,
छिन्न करो पुराचीन संस्कृतियों के जड़ बंधन।"[1]**

'पतझर' कविता में प्राचीनता के प्रति मोह का त्याग है—

**"झरो झरो झरो
× × ×
नवयुग परिवर्तन में
मन के पीले पत्तो !
झरो झरो झरो।"[2]**

प्रगतिवाद के अनुकूल पंत जी स्वस्थ प्रेम की बात कहते हैं—

**"धिक् रे मनुष्य तुम स्वच्छ स्वस्थ निश्छल चुंबन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर।"[3]**

ग्राम्या की प्रकृति विषय के विकास की दृष्टि से उनकी आरम्भिक रचनाओं से मूलतः भिन्न है। कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश रचनाओं में प्रकृति को माया या ब्रह्म की सर्वव्यापिनी शक्ति की छाया के रूप में देखने की परम्परागत धार्मिक दार्शनिक परिपाटी नहीं है। ग्राम्या में प्रकृति हमारे सामने खड़ी होती है—वस्तुगत यथार्थ के रूप में रूपांकन एवं अभिव्यक्ति की विविधता में। इस प्रकार ग्राम्या में सम्पूर्ण ग्राम्य जीवन चित्रित है। "ग्राम्या सचमुच जन-साहित्य है। पंत ने जिस सजीवता, स्वाभाविकता और विषमता से ग्राम-जीवन और वहाँ की प्रकृति का चित्रण किया है, उस सम्पूर्णता से द्विवेदी युग के कवि भी (जो मूलतः ग्रामीण ही थे) नहीं कर सके।"[4] अन्य अनेक समीक्षकों ने भी ग्राम्या की इसी प्रकार प्रशंसा की है। "ग्राम्या कल्पनाशील, सौन्दर्यवादी और भावुक कवि की सुन्दर यथार्थवादी रचना है

---

1. ग्राम्या, पृ० 99।
2. वही, पृ० 97।
3. वही, पृ० 86।
4. ज्योति विहग—शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० 334 (शांति जोशी की पुस्तक सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य में पृ० 422 पर उद्धृत)।

और यह सिद्ध करती है कि कवि की कोमलता भयंकरता से पिघलकर आत्म-
वंचना नहीं करती अपितु कठोर वज्र होकर विश्व को ललकारती भी है।"[1]

इतना होने पर भी ग्राम्या में भी पंत अपने पुराने संस्कारों से पूर्णता मुक्त नहीं हो पाये हैं। पलायन की छायावादी प्रवृत्ति ग्राम्या में भी एक स्थल पर मुखर हो बैठी है। 'दिवास्वप्न' नामक कविता में प्रकृति का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हुए वे बहुत कुछ उसी मनोभूमि में पहुँच जाते हैं जिसमें 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' के कवि प्रसाद पहुँचे हैं—

"वहीं कहीं जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव जग के क्रंदन से छुटकारा पाऊँ।
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ।"[2]

इसी प्रकार 'स्त्री' कविता में स्त्री का वर्णन भी बहुत-कुछ धार्मिक पद्धति पर हुआ है। पंत ने स्त्री के हृदय में स्वर्ग और नरक का निवास बताया है। वास्तव में स्त्री को इस दृष्टि से देखना मध्ययुगीन दृष्टि से देखना ही है। जहाँ तक स्वर्ग और नरक स्त्री के हृदय के भीतर होने की बात है—यह निवेदन किया जा सकता है कि पुरुष के भीतर भी स्वर्ग और नरक का निवास होता है। उत्थान की दिशा में बढ़ती हुई स्त्री और पतन के गर्त में गिरती हुई स्त्री ठीक वैसी ही होती है, जैसा इन स्थितियों में पुरुष होता है। स्त्री में अलग से कुछ विशिष्ट नहीं होता। अस्वस्थ दृष्टिकोण के पुरुष से जितनी हानि होती है, उतनी ही हानि अस्वस्थ दृष्टिकोण की स्त्री से होती है। स्त्री कोई अतिरिक्त हानि पहुँचाने की स्थिति में नहीं है। स्त्री को मानवी के रूप में मनुष्य जाति का ही एक बराबरी का अंग मानने वाले पंत की 'स्त्री' कविता में स्त्री के अन्तस्तल के बारे में किये गये इस प्रकार के कथन आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं। लेकिन उनके पुराने संस्कारों के प्रकाश में अप्रत्याशित नहीं प्रतीत होते।

प्रगतिवादी काव्य में विभिन्न सामाजिक विकृतियों और रूढ़ियों पर व्यंग्य करने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है, प्रगतिवादी इन विकृतियों को दूर करना चाहते हैं। उन्हें दूर करने का इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता है

1. युग कवि पंत की काव्य-साधना, विनयकुमार शर्मा, पृ० 38।
2. ग्राम्या, पृ० 75।

कि इनकी भरपूर खिल्ली उड़ाई जाय। ग्राम्या में व्यंग्य के आरम्भिक प्रयोग देखने को मिल जाते हैं—

"नहीं आँसुओं से आँचल तर
जन बिछोह से हृदय न कातर,
रोती वह, रोने का अवसर,
जाती ग्राम वधू पति के घर।
लो अब गाड़ी चल दी भर् भर्,
बतलाती ध्वनि पति से हँसकर,
सुस्थिर डिब्बे के नारी नर,
जाती ग्राम वधू पति के घर।
रोना गाना यहाँ चलन भर,
आता उसमें उभर न अंतर।"[1]

व्यंग्य की यह प्रवृत्ति आगे चलकर प्रगतिवादी कविता में अपने चरम विकास को प्राप्त करती है।

कथ्य में परिवर्तन हो जाने के बाद भी भाषा एवं शिल्प में सरलता से परिवर्तन नहीं होता। कई बार नये कथ्य को भी हम बहुत-कुछ पुरानी शब्दावली में कहते चले जाते हैं। प्रगतिवादी पंत के साथ भी यह बात एक सीमा तक घटित हुई है। लेकिन एक अत्यन्त जागरूक कवि की तरह उन्होंने छायावादी भाषा एवं शिल्प के केंचुल को निरन्तर छोड़ने की सावधान चेष्टा की है और इसमें उन्हें सफलता भी मिली है। ग्राम्या की अधिकांश कविताओं में भाषा और शिल्प बहुत-कुछ नये कथ्य के अनुरूप ढला हुआ मिलता है। अनेक शब्द सीधे ग्रामीण जीवन से ग्रहण किये गये हैं। संस्कृति की कठिन शब्दावली जो युगांत एवं युगवाणी में भी पंत के साथ चली आई है, ग्राम्या में पीछे छूट गई है। फिर भी ग्राम्या की भाषा को पूर्णतः जन-भाषा कहना कठिन है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि पंत नागरिक रुचि के अत्यन्त सुसंस्कृत कवि हैं। और उनका सुसंस्कृत मन प्राकृत जन-भाषा को सरलता से अपनाने के लिए तैयार नहीं है। फिर भी भाषा की दृष्टि से ही देखें, तो भी पंत ग्राम्या में पर्याप्त सफलता अर्जित कर सके हैं। कई स्थलों पर उन्होंने सीधे ग्रामीण

---

1. ग्राम्या, पृ० 34।

जीवन से शब्दों को ग्रहण कर लिया है—फलस्वरूप कथ्य और भाषा माध्यम में अनुरूपता उत्पन्न हो गई है—उदाहरण के लिए—

"माँ कहती,—रखना संभाल घर,
मौसी—धनि, लाना गोदी भर,
सखियाँ—जाना हमें मत बिसर,
जाती ग्रामवधू पति के घर।"[1]

× × ×

"गोली खाई ही है ! चल हट !
कई—भाँग की ! बा : मेरे भट !
सच काका ! भगवान राम
सीसे की गोली ! राम थे ? विकट !"[2]

ग्राम्या में पंत का भाषा-सामर्थ्य स्थान-स्थान पर झलकता है। उन्हें शब्द की आत्मा की इतनी पहचान है कि तनिक से ध्वनि-परिवर्तन से वे शब्द को अत्यन्त सामर्थ्यवान बना देते हैं—

"बैठ न पातीं, चक्कर देती देव दिखाई,
तिरती लहरों पर सुफेद काली परछाँई।

× × ×

दमक रही उजियारी छाती, कर छौंहे पर,
श्याम घनों से झलक रही बिजली क्षण क्षण पर।"[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में सफेद और उजियाली शब्दों को थोड़ा-सा परिवर्तित करके सुफेद और उजियारी बना देने से उनकी कोमलता में अतिशय वृद्धि हो गई है और परछाँई का सफेद होना तथा पनेबा की छाती का उजला होना विशेष रूप से रेखांकित हो गया है।

रंभाना शब्द गाय के लिए प्रयुक्त होता है, पंत ने 'ग्रामवधू' कविता में स्त्री के रोकर चिल्लाने के लिए इसका प्रयोग किया है—

"पड़ोसिनों पर टूट रंभाकर।"[4]

---

1. ग्राम्या, पृ० 34।
2. वही, पृ० 45।
3. वही, पृ० 74।
4. वही, पृ० 33।

युगवाणी और युगांत की तरह ग्राम्या में भी बिंब योजना है। लेकिन अंतर यह है कि ग्राम्या की बिंब योजना सामाजिक और जन-जीवन से अपेक्षाकृत अधिक जुड़ी हुई है। सामाजिक जीवन के क्षेत्र से ही लिया हुआ ग्रामवधू से सम्बन्धित एक गतिशील चित्र इस प्रकार है—

"सरकाती-पट,
खिसकाती-लट,
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।"[1]

दृश्य बिंब—

"अंगुली की कंघी से बगुले
कलगी सँवारते हैं कोई।"[2]

ध्वनि बिंब—

"उड़ रहा ढोल धा धिन, धा तिन,
औ' हुड़क धुड़कता ढिम ढिम ढिन
मंजीर खनकते खिन खिन खिन
मद मस्त रजक, होली का दिन
लो छन छन छन छन
छन छन छन छन
थिरक गुजरिया हरती मन।"[3]

ध्वनि बिंब का एक और उदाहरण—

"उसका लम्बा डील डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी,
इस खंडहर में बिजली सी
उन्मुक्त जवानी होगी दौड़ी।"[4]

निम्न पंक्तियों को पढ़कर हमारे सामने दुबले-पतले मरियल बच्चे का चित्र आ जाता है—

---

1. ग्राम्या, पृ० 17।
2. वही, पृ० 37।
3. वही, पृ० 31।
4. वही, पृ० 29।

"कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सी टाँगें, बड़ा पेट
टेढ़े-मेढ़े विकलांग घृणित।"[1]

'गंगा की साँझ', 'दिवा स्वप्न', 'संध्या के बाद', 'स्वीट पी', 'याद' आदि कविताओं में वर्णन की सूक्ष्मता और चित्रमत्ता है। 'वे आँखें' अत्यन्त सशक्त चित्र अंकित करती है।

प्रगतिवादी कवि स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष कथन में अधिक विश्वास रखते हैं, अतः उनमें प्रतीक-विधान के प्रति बहुत रुचि नहीं मिलती। पंत की ग्राम्या में भी कोई विशेष प्रतीक-विधान नहीं है।

अलंकार के प्रति प्रगतिवादी कविता में कोई आग्रह नहीं है। ग्राम्या में भी पंत ने कहा है कि—

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिये अलंकार।"[2]

फिर भी अनेक परम्परागत अलंकारों का प्रयोग मिलता है। ग्राम्या की अलंकार-योजना की विशेषता यह है कि उपमानों को प्रायः ग्राम्य जीवन के जीवित सन्दर्भों से ही ग्रहण किया गया है। इसलिए उनमें ताजगी और स्वाभाविकता है। प्रमुख अलंकारों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

उपमा—

"पशु-जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों-से रेंगते मनुज शिशु।"[3]

× × ×

"उभरी ढीली नसें जाल-सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटीं,
पतझर से ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमर बेल हो चिपटी।"[4]

× × ×

---

1. ग्राम्या, पृ० 27।
2. वही, पृ० 103।
3. वही, पृ० 13।
4. वही, पृ० 29।

"टहनी-सी टाँगें बड़ा पेट"[1]
"वन मानुस सा लगता वह जन"[2]

रूपक— "जाति वर्ण की, श्रेणी वर्ग की
तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग-युग के बंदीगृह से
मानवता निकली बाहर"[3]

अनुप्रास—छेकानुप्रास : "आज मिट गए दैन्य दुःख"[4]
वृत्यनुप्रास : "नाचते नर नारी हर्षित मन"[5]

मानवीकरण— "बिदा हो गई सांझ, विनत मुख पर झीना आँचल धर"[6]

× × ×

"भारत माता
ग्रामवासिनी !
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल
गंगा जमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।"[7]

× × ×

"सिमटा पंख साँझ की लाली
जा बैठी अब तरु शिखरों पर,"[8]

रूपकातिशयोक्ति— "बह जाता तट का तिनका—
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण।"[9]

पुनरुक्तिप्रकाश— "कँप कँप उठते उसके उर की
व्यथा विमूर्छित वाणी के स्वर।"[10]

---

1. ग्राम्या, पृ० 27।
2. वही, पृ० 30।
3. वही, पृ० 12।
4. वही, पृ० 11।
5. वही, पृ० 12।
6. वही, पृ० 106।
7. वही, पृ० 48।
8. वही, पृ० 63।
9. वही, पृ० 19।
10. वही, पृ० 13।

प्रगतिवादी कविताओं में मात्रिक छंदों की अधिकता रहती है। ग्राम्या में भी सम-मात्रिक छंद ही अधिक हैं। पंत ने ग्राम्या में भी छंद-प्रयोग के क्षेत्र में कोई असाधारण साहस प्रदर्शित नहीं किया है। लेकिन इतना अवश्य है कि उन्होंने पुरानी बँधी हुई छंद-लीक से हटने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिये 'ग्राम युवती' शीर्षक कविता में उन्होंने मुक्त छंद का प्रयोग किया है। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाये कि यह स्थिति छंदमुक्त स्थिति नहीं है, केवल कुछ निश्चित लयाधारों पर आधारित छंद का निर्वाह है। पंक्तियाँ आठ-आठ मात्राओं के लयाधारों पर आधारित हैं। इसमें छंद की लीक तो टूट गई है, पर छंद टूटने से बच गया है। छंद-लीक टूट जाने के कारण छंद की एकरसता समाप्त हो गई है और उसमें अधिक गत्यात्मकता आ गई है—

8 मात्राएँ

"सरकाती पट, 8 ,,
खिसकाती लट, 8 ,,
शरमाती झट 8, 8 ,,
वह नमित दृष्टि । से देख उरो— 8 ,,
जों के युग घट 8 ,,
हँसती खलखल 8 ,,
अबला चंचल 8, 8 ,,
ज्यों फूट पड़े । हों स्रोत सरल।"[1]

ग्राम्या की शिल्पगत अनेक उपलब्धियों के बावजूद अनेक-अनेक शिथिलताएँ भी उसमें ढूँढ़ी जा सकती हैं। वस्तुतः इनमें से अधिकांश शिथिलताएँ पंत जी के काव्य-विकास में बहुत आरम्भ से दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिये ग्राम्या में भी 'चिर' शब्द का अनावश्यक और प्रचुर प्रयोग है—

"इसमें चिर संकलित रूढ़ि, विश्वास, विचार सनातन।"[2]
× × ×

"यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत।"[3]
× × ×

---

1. ग्राम्या, पृ० 17।
2. वही, पृ० 14।
3. वही, पृ० 16।

"चिर वर्षातप हिम की पाली"[1]

× × ×

"श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित,"[2]

× × ×

"चिर क्षुधा शोत की चीत्कारें, दुःख का कंपन"[3]

इसी प्रकार पृष्ठ 27, 35, 48, 52, 55, 56, 57, 58, 61, 66, 69, 73, 77, 79, 81, 82, 84, 85, 102 आदि पर यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। पर ग्राम्या में एक नयी बात यह है कि चिर को संतुलित करने के लिये 'अचिर' नव शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं—

"धर्मनीति के मान अचिर सब, अचिर शास्त्र, दर्शन मत,
शासन, जन गणतंत्र अचिर युग स्थितियाँ जिनकी प्रेषक,"[4]

संस्कृत शब्दों का भी ग्राम्या में प्रयोग हुआ है—शरदेन्दु, कुसुमादपि आदि। कई अप्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं—श्मश्रु, प्रहृष्ट, अनिर्वाप्य, तितीर्षु आदि। संस्कृत शब्दावली का मोह पंत जी में आरम्भ से ही मिलता है, लेकिन छायावादी कविताओं में यह प्रयोग उतने नहीं अखरते, जितने इनकी प्रगतिवादी कविता में अखरते हैं। वस्तुतः छायावादी काव्य में देश के समृद्ध अतीत से संबंध टूटा नहीं था। छायावादी काव्य प्रवृत्ति की बहुत-सी कविताएँ अतीत मोह से भी संबंधित हैं। उदाहरण के लिये पंत की 'परिवर्तन' कविता का आरम्भ ही अतीत मोह से होता है—

"कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगंत छबि जाल,
ज्योति चुंबित जगती का भाल ?"[5]

अतीत का स्मरण अतीत की भाषा के शब्दों के साथ किया जाय, तो इससे अतीत का बोध उत्पन्न करने में सुविधा हो जाती है। लेकिन प्रगतिवाद का

1. ग्राम्या, पृ० 19।
2. वही, पृ० 20।
3. वही, पृ० 21।
4. वही, पृ० 53।
5. पल्लविनी, पृ० 174।

संबंध तो प्रत्यक्ष यथार्थ से है। इसलिये अतीत भाषा की शब्दावली का प्रयोग
हमारे प्रत्यक्ष के बोध को खंडित ही करेगा।

इसी प्रकार पंत जी ने एक ओर जहाँ ग्राम्य जीवन और प्रकृति के
संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किये हैं, वहीं दूसरी ओर नामों को गिनाकर कवि-कर्म
की इतिश्री समझ ली है—जहाँ भीड़ का बोध उत्पन्न करने के लिये नाम
गिनाए गये हैं और छंद बहुत छोटा है, वहाँ फिर भी नाम परिगणना की यह
प्रवृत्ति अधिक नहीं अखरती। जैसे—

"दादा, नानी, चाचा, ताई,
मौसा, फूफी, मामा, भाई"[1]

लेकिन जहाँ छंद बड़ा है और अन्य किसी भी दृष्टि से नाम परिगणना का
औचित्य सिद्ध नहीं होता, वहाँ यह प्रवृत्ति अधिक अखरती है—

"महके कटहल, मुकुलित जामुन,
जंगल में झरबेरी झूली।
फूले आड़ू, नींबू, दाड़िम,
आलू, गोभी, बैंगन, मूली।"[2]

इसी प्रकार 'सौन्दर्य कला' शीर्षक कविता में अँग्रेजी फूलों के नामों को गिनाना
केवल कवि के बागवानी संबंधी ज्ञान का स्थूल आतंक ही उत्पन्न करता है।
शायद कवि यह भी प्रतीति कराना चाहता है कि वह कठिन से कठिन अँग्रेजी
नामों को हिन्दी छंदों में बहुत सरलता से आबद्ध कर सकता है। लेकिन प्रश्न
यह है कि क्या इस प्रकार की सफलता किसी कवि के लिये—और वह भी पंत
जैसे कवि के लिये महत्वपूर्ण कही जा सकती है? निश्चय ही यह अभ्यास किसी
भी प्रकार महत्व का नहीं कहा जा सकता।

कहीं-कहीं पंत जी तुकांत प्रयोगों में आवश्यकता से अधिक उलझ गए

1. ग्राम्या, पृ० 39।
2. वही, पृ० 36।

हैं। इन स्थलों पर हमारा मन केवल तुकों में ही उलझ कर रह जाता है। 'ग्राम श्री' कविता में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जैसे—

"गंजी को मार गया पाला
अरहर के फूलों को झुलसा,
हांका करती दिन भर बंदर
अब मालिन की लड़की तुलसा।"[1]

●●

1. ग्राम्या, पृ० 36।

अध्याय 6

उपसंहार : प्रदेय का आकलन
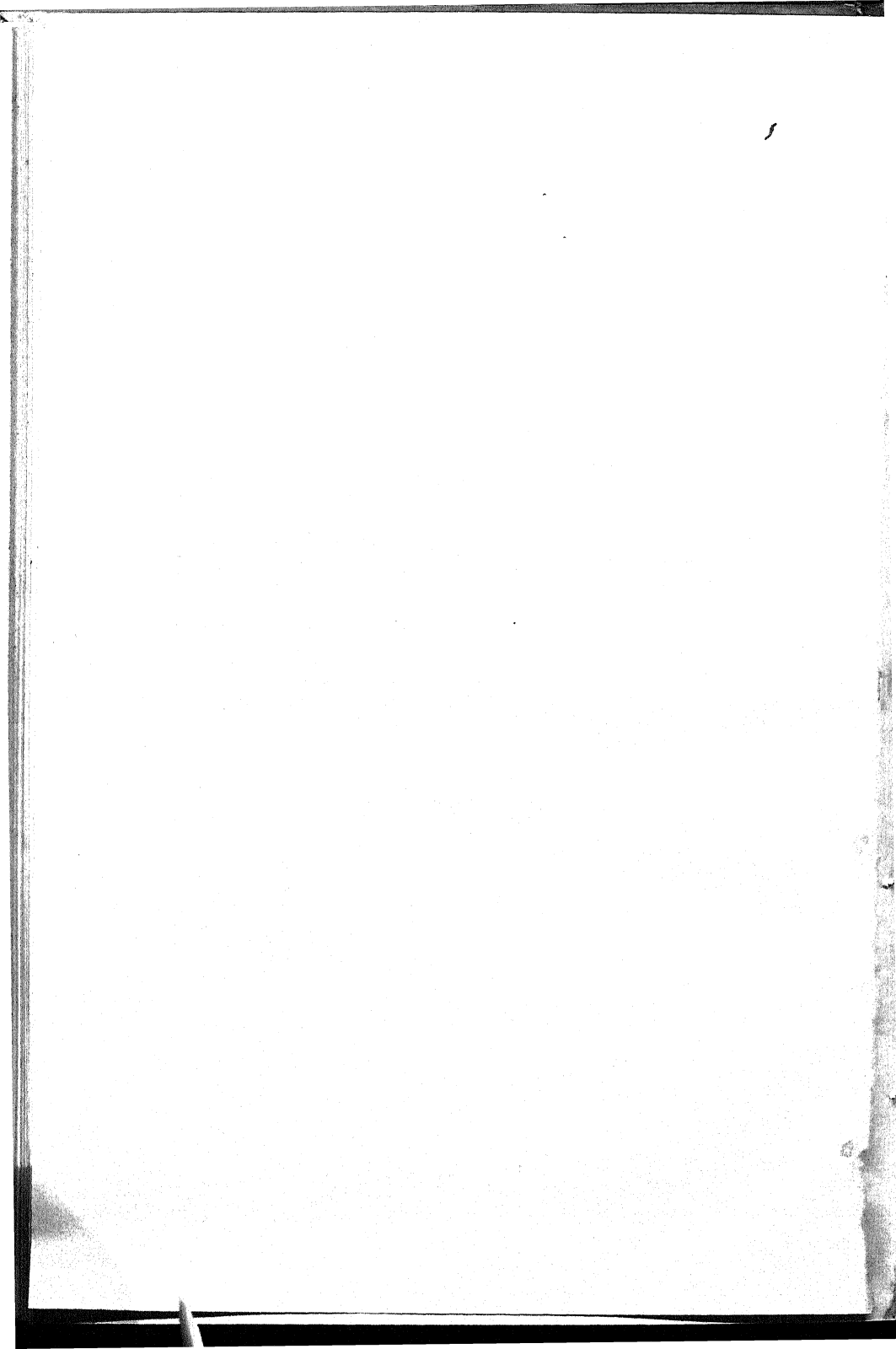
हिन्दी कविता में न केवल प्रगतिशील बल्कि प्रगतिवादी तत्व भी प्राचीन-काल से ही विद्यमान मिलते हैं। विभिन्न कालों के विभिन्न कवियों की कुछ रचनाओं में कहीं-न-कहीं हमें ऐसे तथ्य बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें निर्विवाद रूप से प्रगतिवादी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास जैसे भक्त कवि में भी अनेक स्थलों पर प्रगतिवाद के कुछेक तत्व हैं। अपने युग की सामाजिक, आर्थिक कठिनाइयों का उन्होंने अत्यन्त यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है—

"खेती न किसान को, भिखारी को न खीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई' का करी।"[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य में भी साम्राज्यवादी शोषण के चित्र अंकित हैं। उन्हें देश के धन का विदेश चला जाना कष्टकर प्रतीत होता है।[2] वे यह अनुभव करते हैं कि साम्राज्यवादी आर्थिक शोषण के कारण देश भीतर ही भीतर खोखला होता जा रहा है और साम्राज्यवादी अंग्रेज मीठे हथकंडों से देश का सम्पूर्ण रस चूस रहे हैं।[3]

छायावादी कविताओं में मनुष्य की मुक्ति का उद्बोध है और प्रगतिवाद भी मनुष्य की मुक्ति का आकांक्षी है। पंत जी के प्रगतिवादी काव्य-सृजन के

---

1. कवितावली, उत्तर काण्ड, पृ० 97।
2. पै धन विदेस चलि जात, यहै अति ख्वारी।
3. भीतर भीतर सब रस चूसे
   हँस-हँस के तन-मन-धन मूसे
   जाहिर बातिन में अति तेज
   क्यों सखि साजन, नहिं अंग्रेज।

पूर्व उनके समसामयिक कुछ अन्य हिन्दी कवियों की कविताओं में भी प्रगतिवादी तत्व दिखाई देने लगते हैं। उदाहरण के लिए गयाप्रसाद शुक्ल सनेही त्रिशूल की निम्नलिखित कविता प्रगतिवादी चिंतन के निकट है—

"कुछ को मोहन भोग, बैठकर हो खाने को
कुछ सोएँ अधपेट तरस दाने दाने को।

× × ×

श्रम किसका है, मगर कौन हैं मौज उड़ाते
हैं खाने को कौन, कौन उपजा कर लाते।"

किन्तु उपर्युक्त सम्पूर्ण परम्परा में प्रगतिवाद के तत्व छुटपुट रूप में ही विद्यमान हैं। दूसरे उनके पीछे कोई सुचिंतित सैद्धान्तिक विश्वास नहीं है और तीसरे प्रगतिवादी चित्रण की थोड़ी बहुत झलक दिखाकर उपर्युक्त काव्य प्रयत्न प्रायः अप्रगतिवादी चिंतन में परिणत हो गये हैं। उदाहरण के लिये तुलसीदास ने समाज की जिन कठिनाइयों का चित्र प्रस्तुत किया है उनके लिए उन्होंने समाज की ही किन्हीं शक्तियों को उत्तरदायी नहीं माना है बल्कि कलियुग को उत्तरदायी माना है। कठिनाइयों के निवारण के लिए भी वे किसी सामाजिक राजनीतिक दर्शन को प्रस्तुत नहीं करते बल्कि राम से प्रार्थना करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सामने भी अंग्रेजों द्वारा फैलाया गया आर्थिक शोषण का जाल पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। अंग्रेजों के राज्य में सभी प्रकार के सुख हैं इस बात को वे भूल ही नहीं पाये।[1] उनके सामने भी क्रान्ति या परिवर्तन का कोई कार्यक्रम नहीं है।

छायावादी कविता में भी स्वतन्त्रता, समानता और जनकल्याण की भावनाएँ एक काल्पनिक रूप में ही हैं। उनके पीछे यथार्थ का ठोस आधार नहीं है। कहीं-कहीं अवश्य ऐसा लगता है कि छायावादी कवि यथार्थ की भूमि पर पाँव रख रहे हैं। लेकिन वे यथाशीघ्र फिर आदर्शवादी कल्पना के आकाश में पहुँच जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद की कामायनी में सारस्वत नगर के वर्णन में पूँजीवादी पाश्चात्य सभ्यता और उसके भारतीय संस्करण के विरुद्ध तीव्र रोष व्यक्त हुआ है। घोर बुद्धिवाद, वर्गवाद, असहृदयता और निष्ठुरता के क्या भीषण परिणाम हो सकते हैं इसको उन्होंने सारस्वत नगर की त्रासदी

---

1. "अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।"

के रूप में चित्रित किया है। लेकिन इस सबसे मुक्ति का उपाय बताते हुए वे यथार्थ की भूमि से भटक गये हैं। वे मनु को कैलास पर्वत पर ले जाते हैं और समस्या का समाधान यह बताते हैं कि ज्ञान, क्रिया और इच्छा का समन्वय कर दिया जाय। जीवन की विडम्बना का कारण इन तीनों में समन्वय का अभाव है। इसलिए जिस दिन इन तीनों में समन्वय स्थापित हो जायेगा उस दिन सारा शोषण और कठिनाइयाँ समाप्त हो जायेंगी। वस्तुतः यह कोई समाधान नहीं है। क्योंकि हम जानते हैं कि शोषण का क्रम जब तक अबाध गति से चलता जाता है, शोषक की बुद्धि में परिवर्तन नहीं होता। शोषण का जाल इतना परोक्ष होता है कि सरल समाधानों से उसे काट फेंकना सम्भव नहीं होता।

उपयुक्त कवियों की सीमा उनके युगों की सीमा है। तुलसीदास के युग में ईश्वर और कलियुग से भिन्न कुछ सोचना कठिन ही था। कबीर जैसे क्रान्तिकारी कवि भी ईश्वर-चिंतन से मुक्त नही हैं। भारतेन्दु के युग में भी साम्यवादी सिद्धान्तों का कोई प्रचार नहीं था। यही बात बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों के सम्बन्ध में भी सच है। हम दूसरे अध्याय में स्पष्ट कर आये हैं कि कुछ भारतीय नेताओं की रूस यात्रा, साम्यवादी साहित्य के प्रचार आदि के कारण मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से हमारा परिचय बढ़ा है। इस स्थिति में सुमित्रानन्दन पंत के प्रगतिवादी काव्य-सृजन का विशेष महत्व है। वे हिन्दी के सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने साम्यवादी सिद्धान्तों को हृदयंगम किया और अपनी पुरानी छायावादी भूमि छोड़कर प्रगतिवादी काव्य रचनाओं के संकलन प्रकाशित किये। इस प्रकार वे हिन्दी में प्रगतिवाद के प्रवर्त्तक कवि हैं। "हिन्दी में प्रगतिवाद का भी सबसे पहला कवि, जिसने उसे गौरव दिया, वही व्यक्ति है जो छायावाद का भी एक प्रमुख प्रवर्त्तक था। मेरा आशय कवि पंत से है।"[1] हिन्दी के पहले प्रगतिशील कवि होने का गौरव पंत जी को ही दिया जाना चाहिए। क्योंकि पंत जी ही एक ऐसे कवि थे, जिन्होंने हिन्दी में प्रगतिशील काव्य-सृजन की वास्तविक परम्परा का प्रवर्त्तन किया। फिर वे अपने अन्य सम-सामयिक प्रगतिशील कवियों (जैसे दिनकर और नवीन) की अपेक्षा प्रगतिशील आन्दोलन की मूल सृजनात्मक चेतना से भी अधिक संपृक्त थे।"[2]

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 107।
2. हिन्दी की प्रगतिशील कविता—रणजीत, पृ० 148।

स्वयं पंत में प्रगतिवाद का स्पष्ट रूप युगांत की कविताओं में ही पहले-पहल दिखाई देता है। इसके पूर्व के उनके साहित्य में जो चिंतन है वह और कुछ भी हो किन्तु प्रगतिवादी चिंतन नहीं है। यहाँ तक कि ज्योत्स्ना में भी उन्होंने जो कल्पना की है और जो हल प्रस्तुत किया है वह यथार्थ से बहुत दूर है। "बावजूद सारी सदिच्छाओं और स्वप्नों के ज्योत्स्ना (पंत) का 'कल्पित लोक' और कामायनी का कैलास 'यूटोपिया' ही है।"[1]

सुमित्रानन्दन पंत का महत्व केवल इसी बात में नहीं है कि वे प्रगतिवाद के प्रवर्त्तक कवि हैं बल्कि इस बात में भी है कि उनके कारण हिन्दी कविता उन बहुत-सी दुष्प्रवृत्तियों से बच सकी जो छायावादी काव्य-आन्दोलन के शिथिल होते ही हिन्दी में उठ खड़ी हुई थीं। छायावाद के उपरान्त हिन्दी कविता में नियतिवादी, अराजकतावादी, ध्वंसवादी, हालावादी और व्यक्तिवादी भोगवादी प्रवृत्तियों ने सिर उठा लिया था। वैयक्तिक निराशा और वैयक्तिक भोग के अनेकानेक चित्र अंचल, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा जैसे उत्तर-छायावादी कवियों की कविताओं में देखे जा सकते हैं।[2]

इन कवियों की काव्य-भाषा छायावादी कविताओं की तरह कठिन नहीं है। इसलिये इनका प्रभाव और लोकप्रियता भी हिन्दी में असाधारण रूप से बढ़ रही थी। ऐसे समय में पंत जी के द्वारा एक नयी दृष्टि से समन्वित कविताओं का सृजन हिन्दी की एक महत्वपूर्ण घटना है। उनकी कविताओं के कारण

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता : सिद्धान्त और समीक्षा—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० 343।
2. ● "आज सुहाग हँस हरूँ मैं किसका, किसका लूटूँ यौवन।
   किस परदेशी को बन्दी कर, सफल करूँ यह वेदन।"—अंचल
   ● "आज मुझसे दूर दुनिया, है चिता की राख कर में, माँगती सिन्दूर दुनिया।"—बच्चन
   ● "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जावे।"
   —नवीन

   इन कवियों के प्रथम काव्य-संकलन 1938 तक प्रकाशित हो चुके थे (अंचल—मधूलिका, 1938; बच्चन—तेरा हार, 1932; नरेन्द्र शर्मा—प्रभात-फेरी, प्रवासी के गीत, 1938)। स्वभावतः इनका काव्य-सृजन 1938 के पूर्व आरम्भ हो चुका था और वे पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित कर चुके थे।

उत्तर-छायावादी काल के अनेक.कवि अपनी व्यक्तिवादी दृष्टि छोड़ कर प्रगतिवादी काव्य-सृजन की दिशा में यत्न करने लगे। परवर्ती कवियों—अंचल, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन आदि में जो आत्ममूढ़ व्यक्तिवाद विकसित हुआ था, प्रगतिवाद की प्रेरणा ने इन कवियों को जैसे नव प्रकाश का दान किया। अतः इन कविताओं में केवल मांसलवाद, क्षयी रोमांसवाद और हालावाद ही नहीं है इनमें सामाजिक और स्वस्थ स्वर भी है।[1] इस प्रकार हिन्दी कविता पुनः एक सुचिंतित दर्शन की पीठिका पर स्थित हो सकी।

पंत के युगांत, युगवाणी और ग्राम्या काव्य-संकलनों में प्रायः सभी प्रगतिवादी तत्व मिल जाते हैं। क्रांति का आह्वान, अतीत का विनाश, कृषक और श्रमजीवियों का चित्रण, सामाजिक तथा आर्थिक शोषण के चित्र, मध्य-वर्ग का चित्रण, काव्य के क्षेत्र में रूपवाद का विरोध, आंचलिकता के तत्व, राजनीतिक सामाजिक व्यंग्य, लोकसंस्कृति को ग्रहण करने की आतुरता, आशावादिता, प्रेम के प्रति प्रगतिवादी दृष्टिकोण, नारी के मांसल सौन्दर्य का चित्रण और उसकी महत्ता, वर्ग-संघर्ष, प्रकृति का कुण्ठानाशक चित्रण, काव्य में अलंकृत शैली का विरोध, अन्तर्राष्ट्रीय यथार्थ का संकेत आदि सभी कुछ उनमें विद्यमान है। प्रगतिवाद में समाज से हटकर काव्य के अस्तित्व को स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं है।[2]

पंत का प्रगतिवादी काव्य क्रमिक विकास का काव्य है। युगांत और युगवाणी में सैद्धांतिक आग्रह अधिक है। यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि पंत की साम्यवादी जीवन दृष्टि का विकास मुख्यतः अध्ययन और मनन के माध्यम से हुआ। लेकिन धीरे-धीरे वे सैद्धांतिक आग्रह छोड़ते गये हैं और ग्राम्या में सिद्धांतों का आग्रह नहीं के बराबर रह गया है। दृष्टि तो साम्यवादी ही है लेकिन चित्रण में कहीं ऐसा नहीं लगता कि जैसे वे साम्यवादी सिद्धांतों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हों।

यही स्थिति शिल्प की भी है। युगांत में छायावादी शिल्प-विधान बहुत

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता : सिद्धांत और समीक्षा—विश्वम्भर उपाध्याय, पृ० 347।
2. **Art is the product of society, as the pearl is the product of the oyster—Illusion and Reality, Page 9. Cristopher Caudwell.**

कुछ बना हुआ है। युगवाणी में जैसे पंत जी छायावादी शिल्प के आभिजात्य को पूर्णतः छोड़ देना चाहते हैं। इसलिये उसमें अनेक स्थलों पर सिद्धांत या विचारों के सपाट कथन जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई है। सम्भवतः इसीलिये पंत जी ने उसे गीत-गद्य की संज्ञा दी है। ग्राम्या में वे एक नये शिल्प का आविष्कार करते हैं। यह शिल्प छायावादी शिल्प संस्कारों से प्रायः पूर्णतः मुक्त है। यही कारण है कि ग्राम्या को उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रगतिवादी कृति कहा गया है। इतना ही नहीं डॉ० देवराज ने तो ग्राम्या को उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति माना है।[1] इतने पर भी पंत के प्रगतिवादी काव्य-शिल्प में जो त्रुटियाँ हैं वे उनके प्रगतिवादी होने के कारण नहीं हैं। वस्तुतः वे उनके साथ आरम्भ से ही रही हैं और ग्राम्या के बाद के संकलनों में भी, जब वे प्रगतिवाद से हट गये हैं, उक्त त्रुटियाँ हमें दिखाई देती हैं। युगांत, युगवाणी और ग्राम्या इन तीनों काव्य-संकलनों के विस्तृत विवेचन के अन्तर्गत हमने इन्हें पिछले अध्यायों में विस्तार से स्पष्ट किया है।

पंत के प्रगतिवादी काव्य पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि उसमें उनका मस्तिष्क ही अधिक है हृदय कम। यह आक्षेप बहुत-कुछ सही है। क्योंकि पंत ने जीवन को उसकी सम्पूर्ण कुरूपताओं से अधिक नहीं भोगा है। उनकी स्थिति अधिकांशतः एक दर्शक के रूप में ही रही है। कालाकांकर में रहते हुए भी उन्होंने अपनेआप को एक अतिथि की भूमिका में ही रखा है। स्वभावतः अतिथि प्रायः तटस्थ दर्शक ही होता है। लेकिन अनुभूतिशून्यता का यह आरोप न केवल पंत की प्रगतिवादी कविताओं पर लगाया जाता है बल्कि उनकी छायावादी कविताओं पर भी लगाया जाता है। उनकी छाया-वादी कविताओं पर इस प्रकार का आरोप उनके अत्यन्त सहृदय समीक्षक डॉ० नगेन्द्र ने ही लगाया है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि यदि पंत के प्रगति-वादी काव्य में अनुभूति की उष्णता कम है तो इसलिए नहीं कि उन्होंने प्रगति-वादी काव्य की रचना की बल्कि इसलिए कि वह रचना उनकी है। अभिप्राय

---

1. पंत का काव्य और युग, डॉ० यशदेव द्वारा पृ० 392 पर उद्धृत।
2. "उन जीवनव्यापी गहन संघर्षों का, जिनके वात्याचक्र में पड़कर मनुष्य का जीवन कुछ-से-कुछ हो जाता है, पंत जी में अभाव है।"
—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 27।
"इस आवेश-निर्धनता को पंत जी कल्पना के द्वारा पूरा करते हैं।"
—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 28।

यह है कि अनुभूति की उष्णता का अभाव यदि है तो समूचे पंत काव्य में ही है। वह केवल उनके प्रगतिवादी काव्य की ही दुर्बलता नहीं है। फिर सच तो यह है कि प्रगतिवादी पंत की सभी कविताओं पर अनुभूति के अभाव का आरोप सही नहीं है। जैसे-जैसे वे सैद्धान्तिक आग्रह से मुक्त होते गये हैं वैसे-वैसे उनका प्रगतिवादी काव्य अनुभूति-प्रवण होता गया है। अनुभूति के अभाव का आरोप सबसे अधिक युगवाणी पर किया जा सकता है। स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने इस बात को लक्षित किया है—"युगवाणी में तो, वर्तमान जगत् में सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रायः जितने वाद, जितने आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं सबका समावेश किया गया है। इन नाना वादों के सम्बन्ध में अच्छा तो यह होता कि उनके नामों का निर्देश न करके उनके भीतर जो जीवन का सत्यांश है उसका मार्मिक रूप सामने रख दिया जाता।"[1] इसके विपरीत ग्राम्या पर यह आरोप सबसे कम लगाया जा सकता है। कवि की भूमिका दर्शक की होने पर भी वह ग्राम्य जीवन से सम्पूर्णता संपृक्त होने का यत्न करता है। ग्राम्य जीवन और उसकी संस्कृति को देखकर वह उल्लसित हो उठता है और उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सामने एक नया संसार प्रकट हो गया हो। कहारों के रुद्र नृत्य को देखकर उसे ऐसी ही अनुभूति होती है—

"खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में क्षण भर
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौंदर्य स्वप्न दिखलाकर।"[2]

यह आवश्यक नहीं है कि कवि उस जीवन के स्थूल रूप में जिये ही जिसका वह वर्णन कर रहा है। वह अपने स्थूल व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी मानसिक रूप में अपने काव्य के वर्ण्य जीवन को जी सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो उसका काव्य अनुभूति के स्तर पर सर्वथा प्रामाणिक होगा। पंत जी भी स्थूल रूप से अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए ग्राम्य जीवन के साथ मानसिक स्तर पर संपृक्त हो गये हैं। इसकी झलक अनेक स्थलों पर मिलती है। मध्य वर्ग, कृषक जीवन, श्रमजीवी आदि वर्गों का उनके द्वारा किया गया चित्रण इतना सही और विश्लेषणपूर्ण है कि हमें यह मानना ही पड़ता है कि कवि वर्ण्य विषय से असंपृक्त नहीं है।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 71।
2. ग्राम्या, पृ० 47।

उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि प्रगतिवादी पंत काव्य में कोई अभाव ही नही है। किसी काव्यान्दोलन की आरम्भिक रचनाएँ सभी दृष्टि से परिपूर्ण हो ही नहीं सकतीं। प्रवर्त्तक रचनाकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कठिनाइयाँ कथ्यगत और भाषिक दोनों प्रकार की हो सकती हैं। पंत के समक्ष अधीन सिद्धान्तों को काव्य में रूपायित करनें और समाजवादी यथार्थवाद के अनुकूल भाषा को गढ़ने का प्रश्न था। इन स्थितियों में काव्य में अभावों का रह जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु कुछ अभाव ऐसे भी हैं जो पंत की अपनी कवि-प्रतिभा के अभाव कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए एक उल्लेखनीय अभाव यह है कि पंत जी के पुराने छायावादी संस्कार कई स्थलों पर मुखर हो बैठे हैं। ऐसा कथ्य के क्षेत्र में भी हुआ है और शिल्प के क्षेत्र में भी। कथ्य के क्षेत्र में पलायनवादिता, निराशा और आध्यात्मिकता उभरती दिखाई देती है, जैसे 'दिवा-स्वप्न' कविता में एक लम्बे प्रकृति-चित्रण के उपरान्त वे कहते हैं—

"वहीं कहीं जी करता, मैं जा कर छिप जाऊँ,
मानव जग के क्रंदन से छुटकारा पाऊँ।
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ।"[1]

ज्ञातव्य है कि 'दिवा-स्वप्न' शीर्षक कविता ग्राम्या में संकलित है और 1940 की रचना है। इस समय तक पंत जी का प्रगतिवादी चिंतन स्वभावतः अधिक प्रौढ़ हो चुकना चाहिये था।

इसी प्रकार पंत जी आध्यात्मिकता से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाये हैं। इसका एक स्थूल प्रमाण तो यही है कि उनके तीनों प्रगतिवादी काव्य-संकलनों में बापू पर कोई न कोई कविता अवश्य संकलित है और वे न केवल बापू सम्बन्धी कविताओं में बल्कि अन्य कविताओं में भी भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का एक विचित्र सामञ्जस्य स्थापित करने में लगे हुए हैं। इन सबके कारण अनेक अन्तर्विरोध उनकी प्रगतिवादी कविताओं में दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए यदि वे एक स्थल पर अहिंसा की प्रशंसा करते हैं—

---

1. ग्राम्या, पृ० 75।

"नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय।
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।"[1]

तो दूसरे स्थल पर उसके विरोध में स्वर उठाते हैं—

"बंधन बन रहो अहिंसा आज जनों के हित

× × ×

है सृजन विनाश सृष्टि के आवश्यक साधन
यह प्राणिशास्त्र का सत्य नहीं, जीवन दर्शन।"[2]

वास्तव में पंत जी अपने अध्यात्मवादी संस्कारों को कभी भी सर्वथा त्याग नहीं सके। इसीलिये युगांत, युगवाणी और ग्राम्या की रचना के उपरान्त वे पुनः अध्यात्मवादी कविता के क्षेत्र में लौट गये।

शिल्प के क्षेत्र में भी पंत के पुराने छायावादी संस्कार उनके प्रगतिवादी काव्य-सृजन में भी उन्हें प्रभावित करते रहे। 'चिर' शब्द का मोह और संस्कृत शब्दावली किसी न किसी रूप में ग्राम्या तक चली आई है। जिस प्रकार छायावादी कविताओं में वे विषयान्तर होते रहे हैं उसी प्रकार अनेक प्रगतिवादी कविताओं में भी यह विषयान्तर देखा जा सकता है, उदाहरण के लिए 'ताज' और 'चींटी' कविता को लें। 'ताज' कविता में ताजमहल का वर्णन करते-करते वे अचानक गत युग के मृत आदर्शों रूपी ताज का वर्णन करने लग जाते हैं।[3] 'चींटी' कविता में भी चींटी का सुन्दर वर्णन करते-करते कवि अचानक मनुष्य का वर्णन करने लग जाता है। और वह कविता जो चींटी से आरम्भ हुई थी और 38 पंक्तियों तक उसका वर्णन कर रही थी— मनुष्य के वर्णन से सम्बन्धित 29 पंक्तियों के उपरान्त निम्नलिखित पंक्तियों के साथ समाप्त होती है—

"पूर्ण तन्त्र मानव, वह ईश्वर,
मानव का विधि उसके भीतर।"[4]

---

1. युगवाणी, पृ० 1।
2. ग्राम्या, पृ० 96।
3. "गत युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर,
   मानव के मोहांध हृदय में किये हुए घर।"—युगांत, पृ० 47।
4. युगवाणी, पृ० 11।

इस प्रकार का विषयान्तर और भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का सामंजस्य करने का यत्न तथा अन्य दुर्बलताएँ प्रायः सभी आरम्भिक प्रगतिवादी कवियों में दिखाई देती हैं। शिवमंगलसिंह सुमन के काव्य में भी, जिनका काव्य सृजन काल पंत जी के बहुत बाद है, इस प्रकार की दुर्बलताएँ हैं। कहा गया है कि लाल सेना की पूजा के साथ गाँधी को श्रद्धांजलि सुमन की वैचारिकता पर प्रश्नचिह्न लगाती है।[1]

प्रगतिवादी पंत काव्य की विशेषताओं का आगे चककर हिन्दी की प्रगतिवादी कविता में सम्यक् विकास देखने को मिलता है। स्वयं पंत ही अपनी परवर्ती प्रगतिवादी कविताओं में अतिशय सैद्धांतिक आग्रहों से मुक्त हो गये थे और एक नयी जीवन सौन्दर्यात्मक दृष्टि को अपना चुके थे। बाद के कवियों में यह जीवन सौन्दर्यात्मक दृष्टि और भी सहज रूप में दिखाई देती है। इन परवर्ती प्रगतिवादी कवियों का व्यक्तित्व जिनमें पंत के समकालीन कवि निराला भी हैं, सम्बन्धों से निर्मित है। इन्होंने दुःख को दूर से देखा भर नहीं है, उसे भोगा भी है। एक तो इसलिये और दूसरे इसलिये कि इनके पूर्व पंत काव्यगत आरम्भिक कठिनाइयाँ झेल चुके थे—इनकी कविताएँ अपेक्षाकृत अधिक सहज हैं। नेमीचन्द जैन, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार अग्रवाल आदि कवियों में हमें इसी सहजता के दर्शन होते हैं। इनकी कविताओं में आंचलिकता, साहसिक व्यंग्य, लोकगीतात्मकता, लोकजीवन के प्रति आसक्ति, बोलचाल की जन-भाषा का प्रयोग और अपने घर और गाँव का अत्यन्त आत्मीय स्मरण है। नेमीचन्द जैन की 'मोरा कहीं बोला', त्रिलोचन शास्त्री की 'परदेशी के नाम पत्र,' ठाकुरप्रसादसिंह की संथाल के चित्रण से सम्बन्धित कविताएँ तथा नागार्जुन और केदार अग्रवाल की उनके गाँवों का चित्रण करनेवाली रचनाएँ इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं लेकिन वस्तुतः यह पंत के प्रगतिवादी काव्य और मुख्यतः उनकी ग्राम्या की परम्परा का ही विकास है।

● ●

---

1. सुमन : मनुष्य और सृष्टा—डॉ० प्रभाकर श्रोत्रीय, पृ० 40।